आचार्य मध्व
और
उनका दर्शन
डॉ. अञ्जलि यादव

मेरे पिता
श्री विनोद यादव जी
की पुण्य स्मृति को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन का जन्म जीवन की कटुता और दु:ख की प्रतिक्रिया स्वचूप हुआ है। यही कारण है कि दर्शन का लक्ष्य ही है- व्यक्ति को ऐसी स्थति पर पहुँचा देना, जहाँ कोई दु:ख नहीं है. भय नहीं है, मृत्यु नहीं है- यही 'कैवल्य' है और इसे ही 'मोक्ष' कहते है। वेदान्त के द्वारा स स्थिति के साथ 'आनन्द' की भावना भी संयुक्त कर दी गई। इसीलिए दर्शन व्यक्ति को इस स्थिति तक पहुँचाने का आश्वासन देता है, जो न केवल दु:ख से रहित है अपितु आनन्दस्वरूप भी है।

वेदान्त के अनुसार जगत् की जिस रूप में कल्पना की है उसे छोड़ो। जिसमें अत्यधिक आसक्त थे वह तो मिथ्या जगत् है- उसे छोड़ देना चाहिए। मनुष्य के सभी दु:ख अविद्या, अज्ञान जनित है। यदि मनुष्य-मनुष्य में, जाति-जाति में एकत्व देखा जाए तो सभी एक है। जो व्यक्ति इस प्रकार एकत्वदर्शी हो जाता है उसे फिर मोह नहीं होता क्योंकि वह सभी के आभ्यन्तरिक सत्य को जान लेता है।

मुण्डकोपनिषद् में जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या अत्यन्त सुन्दर पक्षी रूपक के रूप में की गई है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्त्त्य-
नश्ननन्यो अभिचाकशीति।।

एक ही वृक्ष पर दो पक्षी हैं, एक ऊपर एक नीचे। ऊपर का स्थिर निर्वाक और महान है, अपनी ही महिमा में विभोर है। नीचे की डाल पर जो पक्षी है वह कभी तिक्त फल खा रहा है, एक डाल से दूसरी

डाल पर फुदक रहा है। पर्यायक्रम से कभी अपने को सुखी और कभी दु:खी समझता है। कुछ क्षण बाद नीचे के पक्षी ने एक बहुत कटु फल खाया और स्वयं को धिक्कारते हुए ऊपर की ओर देखा, दूसरा पक्षी न तो मीठे फल खाता था और न कड़वे, अपने को न तो दु:खी समझता है और न सुखी परन्तु शांत भाव से अपने में ही विभोर है। उसे अपनी आत्मा को छोड़कर कुछ भी दिखाई नही देता है। अब नीचे का पक्षी इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो गया परन्तु शीघ्र ही भूल गया और फिर फल खाने लगा। थोड़ी देल बाद ही फिर उसने एक बड़ा कड़वा फल खाया, जिससे मन को बड़ा दु:ख हुआ। उसने फिर ऊपर देखा और उसके पास जाने की चेष्टा की, फिर भूल गया कुछ क्षण बाद फिर ऊपर देखा। कई बार ऐसा ही करते हुए वह ऊपर के पक्षी के बिल्कुल निकट पहुँच गया और देखा कि उसके परों से ज्योति का प्रकाश फूटकर उसकी देह के चतुर्दिक विकीर्ण हो रहा है। उसने एक परिवर्तन का अनुभव किया– मानो वह मिलने जा रहा है, वह और भी पास गया, देखा उसके चारों तरफ जो कुछ था सब अन्तर्हित हो रहा है। नीचे का पक्षी मानो ऊपर वाले पक्षी का एक घनीभूत छायामात्र था। केवल प्रतिबिम्ब था। वह स्वयं स्वरूपत: ऊपर वाला ही पक्षी था। नीचे वाले पक्षी का मीठा और कड़वा फल खाना और एक के बाद एक सुख और दु:ख का बोध करना सब मिथ्या स्वप्नमात्र है, वह प्रशांत, निर्वाक महिमामय शोकदु:खातीत ऊपर वाला पक्षी ही सर्वदा विद्यमान था। –मुण्डकोपनिषद्

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन में अनेकानेक प्रयत्न करने पर भी सांसारिक भोग विषय इन्द्रियों को अपनी ओर उसी प्रकार आकर्षित करते हैं जैसे मरूभूमि में मृगमरीचिका मृगों को। यथार्थ के धरातल पर पाँव रखते ही सारे आदर्श अदृश्य हो जाते हैं एवं संकल्प धराशायी परन्तु नीचे वाले पक्षी की भाँति प्रारम्भ में सफलता न भी मिले तो कोई बात नहीं है। आदर्श बहुत दूर हों और हम बहुत नीचे तो भी एक उच्च आदर्श अपने समक्ष रखना होगा।

हमारी आत्मा, चेतना और जीवन ईश्वर का ही विस्तार है। हम ईश्वर नहीं, परन्तु हममें ईश्वर के सारे गुण मौजूद है। जैसे पानी की एक बूँद सागर नहीं हो सकती, लेकिन यह सागर से ही निकली है और इसमें सागर के सारे गुण हैं। कोई भी हो हमें यह नहीं बता सकता कि हम कौन है, क्या है। वह जो कुछ भी कहेगा, वह एक नई अवधारणा होगी। वह हमें बदल नहीं सकेगी। हमें स्वयं अपने भीतर को देवत्व को खोजना होगा। हम जो भी है, इसका सम्बन्ध किसी मान्यता से नहीं है। वास्तव में हर मान्यता, हर विश्वास एक अवरोध ही है। हमें इसके लिए बहुत बोध की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम सभी बोध के साथ ही जन्मे है, लेकिन जब तक हमें इस तथ्य का ज्ञान नहीं होता। तब तक हम इस जगत में अपनी आभा नहीं बिखेर सकते है। हमारा बोध हमारी जागृति कहीं छिपी रहती है, जो हमारा वास्तविक आश्रय है।

इसी प्रकार आचार्य मध्व कहते है– कि ईश्वर ही बंधन एवं मोक्ष का कारण होता है तथा मोक्ष ईश्वर के अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होता है, "अपरोक्ष ज्ञानं विष्णो:" साध्य भक्ति को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि यह भक्ति परमेश्वर के प्रति एक ऐसे निरन्तर प्रेम–प्रवाह में निहित होती है, जो सहस्रों बाधाओं में क्षत अथवा प्रभावित नहीं हो सकती है, जो स्वात्म प्रेम एवं आत्मीय वस्तुओं के प्रति प्रेम से अनेक गुणा अधिक होता है और जो इस ज्ञान से उत्पन्न होता है कि परमेश्वर अनन्त शुभ एवं कल्याणकारी गुणों से सम्पन्न है और जब साध्य भक्ति का उदय हो जाता है तब परमेश्वर का हम पर ऐसा प्रसाद होता है कि हमें मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

"आचार्य मध्व और उनका दर्शन" ग्रन्थ नौ अध्यायों में विभाजित है–

प्रथम अध्याय विषय–प्रवेश है इसके अन्तर्गत मध्वाचार्य के पूर्व की परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त को समझने के लिए उस विचारक का मनोविज्ञान जानना आवश्यक है, तथा उन समस्त परिस्थितियों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिन्होंने मध्वाचार्य

के दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वरूप को स्थिर करने में सहयोग दिया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत मध्वाचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय दो भागों में विभक्त है- पदार्थ मीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा। मध्व ने दस पदार्थों को स्वीकार किया है- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशि, शक्ति, सादृश्य, अभाव। इसी अध्याय में भेद का भी वर्णन किया गया है। पंच भेद आचार्य मध्व के द्वैतमत के चिन्तन की आभार-भित्ति है।

चतुर्थ अध्याय में परम सत्ता के स्वरूप पर विचार किया गया है। इसमें ब्रह्म का सविशेषत्व, ब्रह्म का कर्तृत्त्व, ब्रह्म की निमित्त कारणता, ब्रह्म का अंशाशिभाव का वर्णन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में जीव के स्वरूप के अन्तर्गत चिद्रूपता, नित्यता, अंशाशिभाव, भोक्तृत्व आदि पर विचार किया गया है। मध्वाचार्य कहते है- जीव ब्रह्म के अधीन अवश्य है, किन्तु उससे सर्वथा भिन्न है, जीव की स्थिति संवेध है, मात्र तर्कग्राह्य नहीं। इस अध्याय में यह भी बताया गया है कि जीव में वह कर्त्तृत्व शक्ति परमात्मा से ही प्राप्त होती है। बिना ईश्वर की प्रेरणा के जाव कार्य नहीं कर सकता है। मध्व कहते है- जीव का बन्थ और मोक्ष भी ब्रह्म की इच्छा से ही होता है।

षष्ठम् अध्याय- माया सिद्धान्त का है, जिसमें मध्वाचार्य के माया की अवधारणा का समीक्षात्मक अकलन किया गया है। मध्वाचार्य ने परमवस्तु को सविशेष स्वीकार किया है, इसी कारण वे ईश्वरीय शक्ति माया एवं उसके द्वारा रचित जगत् को भी सत्य स्वीकार करते हैं।

सप्तम् अध्याय- सृष्टि अवधारणा में सृष्टि का विस्तार से वर्णन किया गया है। मध्व के सृष्टि-सिद्धान्त की सर्वाधिक विशेषता है, सृष्टि की सत्यता। परिणामवाद के आधार पर सृष्टि का सत्यत्व अनिवार्य हो जाता है।

अष्टम् अध्याय "साधना का स्वरूप और भक्ति मार्ग" में भक्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं, और भक्ति के लिए द्वैत आवश्यक है, जिससे ब्रह्म और जीव में अन्तर बना रहता है, इसी अन्तर के कारण उपास्य- उपासक भाव बना रहता है।

मध्वाचार्य कहते हैं- मनुष्य में जब सच्चा प्रेम उत्पन्न होता है तो मानव हृदय भक्ति-भाव से उद्वेलित हो उठता है। मनुष्य अपना हृदय तो केवल भक्ति को समर्पित करता है पर भक्ति अपने साथ सहज ही ज्ञान-वैराग्य को भी ले आती है। इस तरह भक्त का हृदय भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की त्रिवेणी में अठखेलियां करता रहता है।

भक्ति में बहुत आनंद है। भक्ति मिल जाए तो और कोई सम्पत्ति, धन, दौलत मिले न मिले, जीवन में आनंद-ही-आनंद है। भक्ति सबसे बड़ा धन है। भक्ति की महिमा असीम है।

अन्तिम नवम अध्याय में साध्य (मोक्ष) की अवधारणा में मुक्ति को साध्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य मध्व पूर्णप्रज्ञभाष्य कहते हैं- परमात्मा ही भक्ति से दर्शन कराकर मुक्ति देते है।

भक्तिस्थः परमो विष्णुस्तयै वैनं वशं नयेत्।
तमैव दर्शनं तः प्रदद्यान्मुक्तिमे तया।।

अर्थात् भक्ति में लगे हुए जीव को भगवान् विष्णु भक्ति साधन से ही वशगत करते है, जिसमें उसे दर्शन होता है, उसी से उसे मुक्ति भी देते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ को पूर्ण करने में मैं सर्वप्रथम प्रो. डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा, प्रो. डॉ. उमाकान्त यादव अध्यक्ष संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सहयोग से ही यह ग्रन्थ अपने अन्तिम स्वरूप को प्राप्त हुआ है।

इसी क्रम में ज्वालादेवी विद्या मन्दिर स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय की प्राचार्या डॉ. शालिनी मिश्रा के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा ने ही इस पुस्तक को लिखने के लिए प्रेरित किया। महाविद्यालय की संस्कृत विभाग की विभागाध्यक्षा डॉ. नीलम श्रीवास्तव के प्रति मैं आभारी हूँ जिनके कुशल निर्देशन और अमूल्य आशीर्वाद के फलस्वरूप यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। डॉ. नीलिमा चौधरी एसोसिएट प्रोफेसर, डॉ. अर्चना चौधरी एसोसिएट प्रोफेसर को धन्यवाद देती हूँ जिनका सत्परामर्श हमें सदैव मिलता रहा है।

मैं, अपने चिर सहचर डॉ. आर. पी. यादव जी के प्रति आजीवन ऋणी रहूँगी जिनके उत्साहवर्धन से ही यह ग्रन्थ आप सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है तथा अपने तनय सात्विक, सुप्रिय समृद्धि को अपना शुभाशीष देती हूँ उनके लिए यह ग्रन्थ एक प्रेरणा भी है।

मैं, श्री विनोद कुमार द्विवेदी जी को आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ा योगदान दिया।

समस्त ग्रंथकारों के प्रति अपने अन्तस की सम्पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करना मेरा सुखद कर्त्तव्य है, जिनके वचन इस ग्रन्थ में अनिवार्य अवयव है।

अन्त में भूतभावन काशी विश्वनाथ से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से जिज्ञासुओं तथा विद्वानों के मानस-चक्षु के समक्ष आचार्य मध्व का भव्यरूप उल्लसित तथा विलसित हो उठे।

-डॉ. अञ्जलि यादव
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत

भूमिका

जीवन का उद्देश्य है उत्तरोत्र उन्नति की ओर अग्रसर होना और सर्वत्र प्रकाश को आलोकित करना, "अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम जीवन को उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर करें।" "उदवय तमसस्परि स्वः पश्यन्तः उत्तरम्, यजुर्वेद 20/2"

जीवन की उत्तरोत्तर उन्नति एवं अज्ञान या अंधकारपूर्ण जीवन-कुहरों को प्रकाशमय करते हुए अग्रसर होते रहने की इस वैदिक भावना से ही दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं की उत्पत्ति हुई। अज्ञान या अविद्या को ज्ञान, विवेक या विद्या के द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, अर्थात् वैदिक-भावना के अनुसार जीवन की उन्नति के लिए प्रकाश को कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसका सम्यक ज्ञान हमें दर्शनशास्त्र में ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार आत्मा, पुनर्जन्म और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में वैदिक तत्त्ववेत्ताओं के जो विचार है, उपनिषदों तथा दर्शन में उन्हीं की मीमांसा की गयी है।

समस्त मानव समाज के विकास की व्यष्टिमय तथा समष्टिमय उपलब्धियाँ ही संस्कृति है। भारतीय संस्कृति के शाश्वत तत्त्व हैं-

सत्य, शिव और सुन्दर। इन्हीं शाश्वत तत्त्वों ने मानव-चेतना को परिष्कृत किया है। दर्शन में उसके सत्य स्वरूप का, नीति में उसके शिव स्वरूप का, और कला में सुन्दर स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। इन तीनों मूल तत्त्वों का समाहार ही संस्कृति है और इन्हीं के द्वारा ही मानवता का हित और कल्याण सम्भव है।

जीवन और जगत् का अतल गहराइयों की खोज के लिए जब भारतीय विचारक उद्यत हुआ, तब सर्वप्रथम वह धर्म जिज्ञासा की ओर

प्रवृत हुआ। अपार विचार-सागर को मन्थन करके उसने धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार किया और उसे इस प्रकार व्यक्त किया- "यह मानव धर्म जिससे इहलोक तथा परलोक, दोनों में अभ्युदय (धर्म-अर्थ-काम) और निःश्रेयस (मोक्ष) इन चारों पुरूषार्थों की प्राप्ति होती है वही धर्म है।" इसका तात्पर्य यह है कि जो सबको समान रूप से, भेद-भाव किये बिना अभ्युदय की ओर ले जाए और सबको कल्याण का मार्ग दिखाए वही धर्म है। धर्म एक मर्यादा है, अनुशासन है, जिसने समस्त ब्रह्माण्ड को नियंत्रित किया हुआ है। यह धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण एवं प्रेरणा स्त्रोत रहा है।

आचार्य मध्व के सम्पूर्ण सिद्धान्तों को श्लोक के माध्यम से भी कह सकते हैं-

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्भाव गताः।

मुक्तिर्नैजसुखाऽनुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन
ह्यक्षादित्रित्रयं प्रमाणमखिलभ्नायै कवेद्यो हरिः।।

अर्थात् श्री हरि सर्वश्रेष्ठ उपास्य तत्त्व है। जगत् तत्त्वतः (यथार्थ रूप से) सत्य है। जीव-ईश्वर आदि का भेद-पंचक भी तत्त्वतः सत्य है। समस्त जीवगण श्री हरि के सेवक हैं। वे समस्त जीव, अपने-अपने कर्मानुसार, तारतम्य से नीची-ऊँची योनियों को प्राप्त हो रहे है। जीव के वास्तविक भगवद् स्वरूप के सुख का अनुभव ही मुक्ति है। विशुद्ध भक्ति ही इस मुक्ति का मुख्य साधन है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द में तीन प्रमाण है। समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य, केवल एक श्री हरि ही है।

आचार्य मध्व के अनुसार अविद्या एवं कर्मों का संयोग ही जीव के बन्धन का कारण है। जीव अविद्यावशात् कर्तृत्व को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है, यही उसकी बद्धता का प्रमुख कारण है। स्वयं की

सत्ता एवं शक्ति के खोज के रूप में ईश्वर का अपरोक्ष अनुभव कर लेना ही मोक्ष है।

प्रज्ञ दर्शन में आचार्य मध्व कहते है–

"प्रधान– साधनत्वाद् भक्तिः करणत्वेनोच्यतेज्ञनादेयापवर्गः नारायण–प्रसाद–मृते न मोक्षः" अर्थात् मध्व के अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव अणु परिमाण मुक्त रहता है और उसका लय ब्रह्म में नहीं होता है। यह दुःखों से रहित पूर्ण आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था में जीव उन सब भोगों को प्राप्त करता है, जो परमात्मा को प्राप्त है।

"ये भोगाः परमात्मना भुज्यन्ते त एव मुक्तैर्भुजयन्ते"

मोक्षावस्था में भी जीवों की समान अवस्था नहीं स्वीकार करते है, वहाँ भी आनन्दादि की अवस्था के भेद को स्वीकार करते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के मूल में भी भक्ति है, ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त भी भक्ति है, मुक्ति के उपरान्त भी भक्ति की ही महत्ता स्वीकार की गई है।

मेरी अनुभूति के अनुसार मध्वाचार्य का सबसे प्रबल पक्ष यह है कि शंकराचार्य जैसे समर्थ आचार्य के द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं के सर्वथा विरूद्ध नए मत की स्थापना का साहस अर्थात् द्वैतवाद की स्थापना। मध्वाचार्य की भेद–दृष्टि और जीवन–दर्शन के आकलन का मेरा यह प्रयत्न किसी भी दृष्टि से पूर्ण और अन्तिम नहीं है। तात्पर्य यह है कि मध्वाचार्य के द्वैतवाद को आस्था के साथ सहानुभूतिपूर्वक आप सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

–डॉ. अञ्जलि यादव
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत

विषय अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

भारत में दार्शनिक चेतना का विकास - भारत की सर्वोत्कृष्ट निधि उसका दर्शन है। दर्शन के क्षेत्र में हर पक्षी को स्वच्छन्द उड़ान भरने का अवकाश प्राप्त होता है, इसी कारण बहुमुखी दार्शनिक विचारधारा का प्रवर्त्तन हुआ। ये विचारधाराएं व्यावहारिक एक ही सत्य के अन्वेषण में विभिन्न और कभी-कभी अत्यन्त विपरीत दिशाओं में चलीं। इनमें विरोध भी हुआ और संघर्ष भी। फिर भी यह संघर्ष सत्य के सच्चे जिज्ञासु की अकुलाहट थी। एक दूसरे पर भंयकर प्रहार करते हुए भी ये चिन्तक जीवन-पद्धति की दृष्टि से एक ही धरातल पर खड़े थे। इन चिन्तकों का सम्पूर्ण चिन्तन इस बात को मानकर चला कि प्रतीयमान सृष्टि का मूल इसके अतिरिक्त कोई सूक्ष्म तत्त्व है और जिज्ञासु स्वयं दृश्यमान नाम रूपमय आकृति से भिन्न है। प्रतीयमान जगत् और भासमान अहम् से अतिरिक्त कोई तृतीय तत्त्व भी है, जो इन दोनों का नियन्ता है, उस ब्रह्म की सत्ता में मनीषी को सन्देह नहीं था।

मानव की प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती है। मानव की इस कौतुकमयी प्रकृति की चरितार्थता के निमित्त भारत में एक महान राष्ट्रीय धर्म, ब्राह्मण धर्म और एक महान् अन्तराष्ट्रीय धर्म-बौद्धधर्म के जन्म के अतिरिक्त यहाँ अनेक दार्शनिक तन्त्रों का भी विकास हुआ। आस्तिकता, नास्तिकता, आत्मवाद, अनात्मवाद, समत्व, द्वित्व, अनेकत्व सब एक साथ अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते रहे।

किसी भी सिद्धान्त को समझने के लिए सर्वप्रथम उसे प्रस्तुत करने वाले विचारक का मनोविज्ञान समझना पड़ता है, और उसके मनोविज्ञान को समझने के लिए उन समस्त परिस्थितियों, सन्दर्भों का अध्ययन और आकलन करना होता है, जिसमें उनका चिन्तन पोषित हुआ है। इस अध्याय में उन सभी परम्पराओं और प्रवृत्तियों की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गयी है तथा उन सभी तत्त्वों के स्वरूप पर विचार किया गया है, जिन्होंने मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वरूप स्थिर करने में सहयोग दिया है।

(क) आर्य संस्कृति - इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल का मनुष्य प्रकृति की शक्तियों में व्यक्तित्व का आरोप कर देता है और ये अपनी विशालता के कारण उसके देवता बन जाते है। वह उनके प्रति भय, आश्चर्य, पूजा का मिला-जुला भाव अपना लेता है, उनकी स्तुति में गीत गाता है और उन्हें प्रसन्न करने या उनका अनुग्रह प्राप्त करने के हेतु उनकी उपासना करता है या उन्हें बलि देता है, इस प्रकार का विश्वास यद्यपि सरल और बालोचित लगता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, कि इसका दार्शनिक आधार बिल्कुल हो ही नहीं। यह इस आस्था का सूचक है कि दृश्य जगत् स्वयं अन्तिम वस्तु नहीं है और सत्य उसके अन्दर छिपा हुआ है, जो इसका आधार और मूल तत्त्व है।

(ख) ऋग्वैदिक काल - में कर्मकाण्ड का स्वरूप और प्रयोजन दोनों ही बिल्कुल सरल थे। जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे प्रकृति की जानी-पहचानी शक्तियाँ थी और उन्हें जो हवि दी जाती थी उसका साधारण प्रयोजन कामनाओं की प्राप्ति करना था जैसे- सन्तान, शत्रुओं के नाश की। यह सरलता शीघ्र ही लुप्त हो गयी। हमें कुछ प्राचीन मन्त्रों तक में इस बालसुलभ उपासना के अतिरिक्त एक संगठित यज्ञ-पद्धति के दर्शन होने लगते है, जिसमें पहले से ही पौरोहित्य की प्रधानता है, फिर भी प्राचीन वैदिक युग के कर्मकाण्ड को उचित अनुपात से अधिक बढा हुआ नहीं कहा जा सकता है।

(ग) उत्तरकालीन मन्त्रकाल और ब्राह्मणकाल - में कर्मकाण्ड बहुत जटिल बन गया था। पूर्वकाल के यज्ञों के पीछे की भावना में भी परिवर्तन आ गया। पहले यह मानव और देवचेतना के बीच सौहार्द और सौमनस्यपूर्ण सम्बन्धों के प्रतीक थे, किन्तु परवर्तीकाल में देवता यज्ञों के द्वारा यजमान की इच्छित वस्तुएं प्राप्त करने के लिए बाध्य किये जाने लगे। इस बाध्यता और कर्मकाण्ड की जटिलता के कारण देवताओं का महत्त्व पूर्वमीमांसा दर्शन में समाप्त हो गया।

(घ) उपनिषद् काल : ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया - उपनिषद् भी मंत्र और ब्राह्मण तथा आरण्यकों के समान वैदिक साहित्य का एक अंश है। उपनिषदों में प्राचीन प्रकृति-देवताओं को उनकी पुरानी प्रतिष्ठा फिर नहीं मिली निश्चय ही उन्हें त्याग नहीं दिया गया, बल्कि उनका एक या दूसरे सम्बन्ध में उल्लेख होता रहा किन्तु अब जिस परमसत्ता की खोज की गयी उसके सामने वे निस्तेज हो गयी। उपनिषदों में व्यक्ति-चेतना और देव चेतना के बीच का अन्तर

समाप्त हो गया, आत्मन् और ब्रह्मन् एक दूसरे के पर्याय बन गये। **तत्त्वमसि, ब्रह्मणः कोशोऽसि** जैसे उपदेशों से यह घोषणा की गयी कि वैयक्तिक चेतना विराट विश्व चेतना की ही अभिव्यक्ति है, इनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया तथा उपनिषदों की आध्यात्मिक परम्परा में बौद्धधर्म और जैनधर्म का उदय हुआ। महाभारत में तत्कालीन अनेक धर्मों और विश्वासों का संकलन है। शाक, शैव, पांचरात्र धर्म हिन्दू धर्म के अंग बन गए, क्यों कि बाद के हिन्दू धर्म का इतिहास इन धर्मो का ही इतिहास है।

पांचवी, छठी, सातवीं शती में बौद्ध धर्म की दार्शनिक उपलब्धियों के असाधारण ऐश्वर्य के दर्शन प्राप्त होते है। परम्परागत हिन्दू धर्म में यह स्वीकार किया गया था कि व्यक्ति के पिछे कर्मो के अनुसार उसे सुख या दुःख देना ईश्वर या किसी अन्य लोकोत्तर शक्ति के हाथ में है, और जैन धर्म में कर्म को सूक्ष्मभूत, पुदगल माना गया जो आत्मा से मिलकर उसे स्वाभाविक ऊँचाई से नीचे की ओर खींचता है। कुछ ने इन दोनों मतों को अस्वीकार करके कर्म को नैतिकता के क्षेत्र में अपनी ही प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने वाला एक अपौरूषेय नियम स्वीकार किया।

(1) जैन और बौद्धधर्म - के निरन्तर प्रहारों से ब्राह्मण धर्म बहुत क्षत-विक्षत हो गया था, मीमांसकों ने उसकी स्थापना के किये प्रयत्न किए परन्तु परिस्थितियों में कोई सन्तुलन नहीं आया। दक्षिण के भक्त कवि और साधक जिनमें शैवभक्त **'अडियार'** और वैष्णव भक्त **'आलवार'** दोनों ने भक्ति का प्रचार और प्रसार किया। पुराणदर्शन और भक्तकवियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप उपनिषदों का अचिन्त्य सत्य मानवीय चिन्तन की परिधि में तो आ गया परन्तु वैदिक धर्म पुनः अपनी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सका।

(2) शांकर मत - सर्वाधिक चर्चित दार्शनिक आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः दिलाने का प्रयत्न किया। शंकर के दर्शन की व्याख्या सुन्दर ढंग से इन शब्दों में की गयी है - **''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः''** (ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है, तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न है।) शंकर के मतानुसार- ब्रह्म पूर्ण एवं एकमात्र सत्य है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही चरम लक्ष्य है। वह सर्वोच्च ज्ञान है। ब्रह्मज्ञान से संसार का ज्ञान जो मूलतः अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म अनन्त, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है। वह भूत जगत् का आधार है जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम

नहीं। शंकर ने केवल इसी अर्थ में ब्रह्म को विश्व का कारण माना है। डॉ0 राधाकृष्णन कहते है ''उनका दर्शन सम्पूर्ण रूप में उपस्थित है, जिसमें न किसी पूर्व की आवश्यकता है और न अपर की चाहे हम सहमत हो अथवा नहीं, उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ता है।

आचार्य रामानुज का मत - शंकराचार्य की भांति आचार्य रामानुजाचार्य ने दर्शन और धर्म के आदर्श भिन्न-भिन्न नहीं रखे, ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं किया। इनके विषय में हम यह कह सकते है कि यद्यपि इन्होंने भक्ति को शास्त्रीय प्रतिष्ठा दिलायी, परन्तु एक दार्शनिक के उत्तरदायित्व का निर्वाह भी किया।

हिन्दू दर्शन के विकास-क्रम और प्रवृत्तियों की इस समीक्षा के पश्चात् हम वैष्णव-दर्शन और धर्म के स्वरूप पर विचार करने की स्थिति में आ जाते है। नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का धार्मिक इतिहास भक्ति-आन्दोलन का ही इतिहास है मध्ययुग का वैष्णव धर्म भागवत धर्म, पुराण-दर्शन, आलवार-भावना का एक समीकरण है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

भागवत धर्म - इस धर्म में परमसत्ता का निर्देश करने वाला एक ही नाम था - वासुदेव किन्तु बाद में नारायण, हरि, कृष्ण आदि अन्य नाम भी जुड गये, परवर्तीकाल में सर्वाधिक लोकप्रिय नाम कृष्ण ही हो गया। महाभारत के नारायणीयो प्राख्यान में इस भागवत या 'एकान्तिक' धर्म का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ इस धर्म को सात्वतों का धर्म कहा गया है। सात्वत वृन्णि जाति का ही नाम था, वासुदेव, संकर्षण अनिरुद्ध और प्रद्युम्न इसके सदस्य थे।

भागवत धर्म का उल्लेख 400-200 ई.पू. से बहुत स्पष्ट रूप से मिलना प्रारमभ हो जाता है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के 4.3.98 सूत्र की व्याख्या करते हुए पतंजलि सूत्र में आए 'वासुदेव' नाम का अर्थ 'पूजनीय' अर्थात् ईश्वर करते है। मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त का राजदूत मेगस्थनीज ने भी वासुदेव की उपासना का उल्लेख किया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ई.पू. तीसरी या चौथी शताब्दी में एक ऐसे धर्म की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी जिसके आराध्य वासुदेव थे और जिसके मानने वाले स्वयं को भागवत् कहते थे।

शतपथ ब्राह्मण में इस बात का उल्लेख है कि नारायण ने पाँच दिनों तक चलने वाले 'पंचरात्र' यज्ञ का अनुष्ठान किया था, इसलिए इस धर्म का एक

नाम 'पाचरात्रधर्म' भी है। आचार्य मध्वाचार्य के सिद्धान्त में 'पञ्चरात्रग्रन्थ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है इसीलिए कहते है - ''पञ्चरात्रग्रन्थ' का अध्ययन करना, जीव के लिए परमावश्यक है। इस ग्रन्थ में कहा गया है- कि जगत् तत्त्वतः सत्य है, और यह जगत् मरुमरीचिका (मृगतृष्णा) की तरह एवं आकाश की नीलिमा की तरह, तथा सीपी की चांदी की तरह, भ्रान्ति के द्वारा कल्पित नहीं है। समस्त सद्‌गुणों से युक्त भगवान् ही स्वतंत्र पदार्थ है, जड़ जगत् एवं जीवमात्र, अस्वतन्त्र पदार्थ है।

भागवत धर्म की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है - भगवान् वासुदेव ही सर्वोच्च सत्य है इनकी कृपा परमसाध्य होने के कारण कर्मकाण्ड एवं भावहीन तपस्या से नहीं प्राप्त हो सकती है, इनकी कृपा आत्म समर्पण पूर्वक भक्ति से ही प्राप्त की जा सकती है। भागवत धर्म में मूर्तिपूजा की मान्यता होने के कारण यह वैदिकधर्म, जैनधर्म, एवं बौद्धधर्म से भिन्न हो जाता है। मध्वसिद्धान्त के अन्तर्गत भागवत धर्म की व्याख्या का एक कारण यह भी है कि इसकी विशेषताएं मध्ययुगीन वैष्णव धर्म में भी दृष्टिगोचर होती है। भागवतधर्म के श्रीकृष्ण का दर्शन मध्ययुगीन वैष्णव धर्म के पूर्णपुरुष परब्रह्म श्रीकृष्ण का दर्शन समान है, दोनों आराध्य के रूप में पूजनीय है।

आलवार साहित्य- आलवार दक्षिण भारत के भक्त कवि थे। दक्षिण भारत और परम्परया उत्तर भारत में भागवतधर्म के प्रचार और प्रसार में इन्होंने अत्यधिक योगदान दिया। इस प्रकार उत्तर भारत की भक्ति-परम्परा को आलवारों की काव्य-परम्परा ने बहुत अधिक प्रभावित किया। आलवारों का समय ईसा की चौथी-पाँचवीं शती माना जाता है।

आलवारों की रचनाएं श्रीविष्णु के प्रति अनन्य और समर्पित प्रेम से ओत-प्रोत है। यही समर्पित प्रेम परवर्ती प्रपत्ति-भावना का आधार और मूल तत्त्व हो जाता है। आलवारों की रचनाओं में तत्त्व का दार्शनिक विश्लेशण नहीं प्राप्त होता है, कहीं-कहीं पर दार्शनिक उक्तियाँ प्राप्त हो जाती है। आलवार भी भागवत धर्म के समान ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए आत्मसमर्पण ही साधन है।

आलवारों की एक विशेषता 'साधारणीकरण की प्रवृत्ति' अत्यन्त महत्तवपूर्ण विशेषता के रूप में मानी जाती है। आलवार कृष्ण कथा के चरित्रों से भावात्मक ऐकात्म्य स्थापित कर उन चरित्रों के मनोविज्ञान को अपने

मनोविज्ञान के रूप में स्वीकार कर लेते है। आलवारों की प्रेमभावना में हमें भौतिक-प्रेम की शब्दावली में आध्यात्मिक प्रेम की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है।[1]

आलवारों की व्याख्या करते समय यह कह सकते है कि उत्तर भारत का भक्ति-आन्दोलन अपने विश्वासों और निष्ठाओं के लिए बहुत बड़ी सीमा तक आलवारों का ऋणी है। आगे चलकर हमें यह दृष्टिगोचर होगा कि यही सिद्धान्त वैष्णव दर्शन में अविकल रूप से विद्यमान है।

पुराण- भारतीय भक्ति-साहित्य में 'भागवत-पुराण' का अद्वितीय स्थान है। भागवत पुराण में परमेश्वर को कई नामों से पुकारा जाता है- ब्रह्मन, परमात्मन्, भगवत, परन्तु किसी भी नाम से पुकारा जाए उसका विशुद्ध सारशुद्ध अरूप चिदात्मा में निहित है।[2] पुराणों में वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा मूर्तिपूजा और भक्ति की स्थापना को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

श्रीमद्भागवतपुराण मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला पुराण है। इसके अतिरिक्त विष्णु, हरिवंश, आदि पुराणों का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सम्प्रति अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, कूर्मपुराण आदि में भी कृष्ण कथा का वर्णन है भागवतपुराण की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण इसे किसी विशिष्ट दार्शनिक मतवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। क्यों कि इसमें अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय है। भागवत का प्रधान सिद्धान्त पांचरात्रमत है परन्तु सांख्य-योग और वेदान्त के सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया गया है। भागवत को भक्तिसमन्वित अद्वैत का ग्रन्थ भी कह सकते है, क्यों कि इसमें अद्वैत और भक्ति दोनों की अपेक्षाएं स्वीकार की गयी है।

भागवत में सभी सिद्धान्तों का पर्यवसान भगवान की अहैतुकी भक्ति में ही किया गया है। वह काव्य भी है साक्ष्य भी। साधन के रूप में वह सर्वाधिक सक्षम साधन है। और साध्य के रूप में मुक्ति से भी श्रेष्ठ है-

अनिमित्ता भागवतीभक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।। (श्रीमद्भाग 3.25.33)

'भागवत' के अनुसार-ईश्वर की अहैतुकी और अप्रतिहत भक्ति का नाम धर्म है, वह उपासना जो सबके प्रति दयालुता की प्रवृत्ति रखने वाले तथा

---

1 डा. एस. एन. दास गुप्तः 'ए हिस्ट्री आँफ इण्डियन फिलांसफी' भाग-3, पृष्ठ 69-84

2 भागवत-पुराण, प्रथम, 3,30

निर्मत्सर मनुष्यों द्वारा हृदय की पूर्ण सद्भावना के साथ की जाती है। इस उपासना में आत्मा की पूजनीयता की अनुभूति के स्वाभाविक परिणाम के रूप में परमतत्त्व के ज्ञान का समावेश होता है तथा वह स्वभावतः सर्वोच्च आनन्द को उत्पन्न करती है।[1]

परमेश्वर की ब्राह्य शक्ति की अभिव्यक्ति 'माया' के विषय में भागवत पुराण' में कहा गया है- कि वह परम सत्ता के माध्यम के सिवाय स्वयं को अभिव्यक्त नहीं कर सकती, तथा फिर भी उसमें भासमान नहीं होती है, अर्थात् 'माया' वह है जो ब्रह्मन के बिना कोई अस्तित्त्व नहीं रख सकती और जिसका फिर भी ब्रह्मन् में कोई अस्तित्त्व नहीं है।[2] इस प्रकार 'माया' के दो व्यापक है- एक तो ''जीवमाया'' जिसके द्वारा वह जीवों को मोहित करती है तथा दूसरा 'गुणमाया'' जिसके द्वारा जगत् के रूपान्तरण घटित होते है।

''भागवत पुराण'' का सबसे महत्त्वपूर्ण अवतरण उसका प्रथम मंगलाचरण का श्लोक माना जाता है। इसमें कहा गया है कि ''गुणों '' द्वारा की गयी सृष्टि मिथ्या है और फिर भी उसमें अधिष्ठान रूप में स्थित परम सत्ता के कारण वह यथार्थ प्रतीत होती है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय परम सत्ता ब्रह्मन् से निष्पन्न होते है, तथा इस परम सत्ता की ज्योति से सर्व अंधकार तिरोहित हो जाता है।[3]

इस प्रकार पुराण में जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, वह किसी न किसी रूप में वैष्णवधर्म में दृष्टिगोचर होते है।

चतुःसम्प्रदाय - भागवतधर्म, आलवार, पुराणों, विशेषरूप से श्रीमद्भागवत की भक्ति-भावना से ओत-प्रोत वातावरण में चतुःसम्प्रदाय का जन्म हुआ, इन्होंने वैष्णवधर्म को लोकप्रिय बनाने में सहयोग दिया है रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क ये चार आचार्य है।

---

1 भागवत पुराण 1,1,2 श्रीधर के प्रतिपादन के अनुसार व्याख्या

2 ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि
तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथाभासो यथा तमः।। -भागवत 2.9.33

3 जन्माधस्य यतोऽन्वयाद् इतरतश्चार्थेष्व अभिज्ञः स्वराह, तेन ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः, तेजो-वारि-मृदा यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा, द्याम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि।। -भागवत 1.1.1

1. श्रीसम्प्रदाय - इसके प्रधान संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य थे। वाद में श्री रामानन्द स्वामी ने इसका प्रचार बढ़ाया, इसलिए इसे 'रामानन्द-सम्प्रदाय' और इसके अनुयायी को 'रामानंदी' भी कहते है। इनका दार्शनिक मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज तीन तत्त्व स्वीकार करते है- चित् अचित् और ईश्वर। 'चित्त तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न है 'अचित् ' तत्त्व जड़ तथा विकारवान् है। ईश्वर अनन्त ज्ञानवान आनन्द का एकमात्र स्वरूप, ज्ञान शक्ति आदि गुणों से विभूषित, समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करने वाला, विचित्र शरीर धारण करने वाला लक्ष्मी, भू, एवं लीला का नायक है। आत्मा (चित्) जड़ (आचित्) ईश्वराश्रित है। ईश्वर ही प्रधान अंगी है और चित् तथा अचित् इसके दो विशेषण या अंग है। इसी कारण रामानुज का सिद्धान्त ''विशिष्ट-अद्वैतवाद'' कहलाता है। रामानुज ने 'श्रीभाष्य', वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, वेदान्तदीय, गीताभाष्य आदि ग्रन्थों की रचना की। रामानुज मोक्ष-प्राप्ति को किसी नये फल की उपलब्धि नहीं मानते है, बल्कि मोक्ष को पूर्व-सिद्ध स्थिति का पुनःस्थापन मात्र स्वीकार करते है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन धारा में रामानुज के विशिष्टाद्वैत का विशिष्ट स्थान है।

2. ब्रह्म सम्प्रदाय - इसके प्रधान प्रवर्तक ब्रह्मा और संस्थापक 'मध्वाचार्य' हुए। इनके पश्चात् गौडस्वामी ने इसका विशेष प्रचार किया। इसलिए यह 'मध्व-सम्प्रदाय' और ''गौडिया-सम्प्रदाय'' भी कहलाता है इनका दार्शनिक सिद्धान्त द्वैतवाद है।

3. रूद्र सम्प्रदाय - 'रूद्र' इसके प्रधान प्रवर्तक और 'विष्णुस्वामी' प्रधान संस्थापक हुए। इसके बाद बल्लभाचार्य ने इसका विशेष प्रचार किया। इसलिए यह 'विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय' और 'वल्लभ-सम्प्रदाय' भी कहलाता है। इनका दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत कहा जाता है 'विष्णुस्वामी' के ग्रन्थ न मिलने के कारण उनके दार्शनिक मत की भी जानकारी नहीं हो पायी है। ऐसा ज्ञात होता है कि अद्वैतवाद को माया से रहित मानकर 'शुद्धाद्वैत' का प्रतिपादन किया था, जिसका विकास 'वल्लभाचार्य' के दर्शन में प्राप्त होता है।

'वल्लभाचार्य' ने शुद्धाद्वैत नामक दार्शनिक सिद्धान्त तथा 'पुष्टिमार्ग' नामक भक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया है। इनका जन्म सम्वत् 1535 में हुआ। आचार्य वल्लभ का दर्शन अद्वैतपरक होने पर भी 'भक्ति' के लिए जितने द्वैत की आवश्यकता होती है, उतना द्वैत इनके दर्शन में मिल जाता है इनके

सिद्धान्त का सार यह है कि ब्रह्म और जीव का अद्वैत, माया सम्बन्ध से सर्वथा रहित है। माया का संस्पर्श न होने के कारण यह अद्वैत शुद्ध है। ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनन्द अंशों में से चित् और आनन्द का तिरोभाव कर जगत् तथा आनन्दांश का तिरोभाव कर जीवरूप से अवतीर्ण होता है। जीव और जगत् उसकी ही अभिव्यक्ति विशेष है, इस प्रकार तत्वान्तर का अभाव होने से सर्वत्र अद्वैत ही दृष्टिगोचर होता है। श्रीमद्भागवत के आधार पर 'पुष्टिसम्प्रदाय' की स्थापना की है। पुष्टि सम्प्रदाय भागवती भक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है। वल्लभ ने भक्ति को मुक्ति से श्रेष्ठ माना है।[1]

वल्लभ ने भगवत्सेवा को ही परमपुरुषार्थ स्वीकार किया है। इनके दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शुद्धाद्वैत उनकी अपनी मौलिक उद्भावना है।

4. सनकादि सम्प्रदाय - इनके प्रवर्तक सनकादि और प्रधान संस्थापक निम्बर्काचार्य हुए, अतएव यह 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' भी कहलाता है और बाद में हरिव्यास स्वामी द्वारा प्रचार करने के कारण 'हरिव्यासी' भी कहा जाता है इनका दार्शनिक मत 'द्वैतद्वैत' या 'भेदाभेद' कहा जाता है।

निम्बार्क मत में एक जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृति में तीन तत्व है। ये तीनों आपस में भिन्न-भिन्न है, इसीलिए ये द्वैतवादी है। जीव तथा प्रकृति परमात्मा के अधीन है, परमात्मा के बिना इन दोनों की स्थिति ही नहीं हो सकती है। परमात्मा से उनका इतना ही अन्तर है जितना कि समुद्र का उसकी तरंग से।[2] इसलिए एक प्रकार से ये 'अभेदवादी' भी है।

निम्बार्काचार्य में एक अलौकिक शक्ति थी, जिसका प्रत्यक्ष-प्रमाण उनकी रचनाओं वेदान्तपारिजातसौरभ, सिद्धान्तरत्न, दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तव, वेदान्तकौस्तुभ, वेदान्तकौस्तुभप्रभा, पांचजन्य, तत्वप्रकाशिका, सकलाचार्य-मतसंग्रह में दृष्टिगोचर होता है।

निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त में ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। चेतन और अचेतन रूप शक्तियों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान (सत्) कार्यों को यह स्थूलावस्था में प्रकाशित कर देता है, अतः जगत् का उपादान कारण है। अपनी-अपनी अनादि कर्म-वासना के वशीभूत संकुचित ज्ञान वाले जीवों के

1 डा. राजलक्ष्मी वर्मा, आचार्य वल्लभ और उनका दर्शन, पृ. 23

2 वेदान्तपारिजातसौरभ, 1-2-5-6, 2-1-13

कर्म-फल-भोग के योग्य ज्ञान को प्रकाशित करके उपभोग-साधनों के साथ उनका संयोजन करता है, अतः निमित्त कारण भी वही ब्रह्म है। इस प्रकार किसी न किसी स्तर पर वेदान्त समस्त सम्प्रदाय 'भेदाभेद' के सिद्धान्त को स्वीकार करते है।

वैष्णव सम्प्रदायों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ - इस प्रकार रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क, हुई वल्लभ, चैतन्य इन सबसे मिलकर वृहद् वैष्णवधर्म की संरचना हुई। जिसमें परम-सत्ता के साकार रूप का आश्रय लेकर, उनकी कृपा का अवलम्ब प्राप्त करके, मुख्यतया भक्ति के द्वारा परम श्रेय स्वरूप भगवत् प्राप्ति भी बात कही गयी।

वैष्णव-धर्म की विशिष्ट प्रवृत्तियों की समीक्षा से पहले उसकी विशेषताओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। वैष्णव-विचारधारा की निम्न विशेषता है- जीव ब्रह्म की ही वास्तविक अभिव्यक्ति है, अतः जीव में ब्रह्म का स्वभाव निहित है, जैसे लहर में सागर का या स्फुलिंग में अग्नि का, फिर भी दोनों में अणु और विभु का अन्तर है। अंशाशिभाव को स्वीकार करते हुए, जीव और ब्रह्म में अद्वैत होते हुए भी एक अन्तर सदैव रहता है, यह अन्तर भक्ति के लिए अवकाश देता है। जीव की भाँति जगत भी ब्रह्म भी एक विशेष अवस्था है। जगत् को मिथ्या नहीं मानते, क्योंकि जगत् भी सत्य ब्रह्म की सत्य अभिव्यक्ति है। वैष्णव दार्शनिक ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण स्वीकार करते है। एकमात्र मध्वाचार्य ही ब्रह्म को केवल 'निमित्तकारण' स्वीकार करते है। वैष्णव वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय धर्म-दर्शन के सम्प्रदाय होने के कारण दार्शनिक क्षेत्र में इनका योगदान आंशिक ही है। ईश्वरवादी धर्म-दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण हिन्दू संस्कृति के लिए जीवन्त, जीवन-दर्शन देने के कारण समाज पर इनका काफी प्रभाव रहा है।

वेदान्त की ईश्वरवादी परम्परा धार्मिक न होकर दार्शनिक अधिक है। यह वेदान्तीय ईश्वरवाद विश्व में अपने ढंग का निराला है, क्यों कि वेदान्त का 'ईश्वर' परात्पर और अन्तर्यामी होने के साथ-साथ दार्शनिक दृष्टि से परम तत्त्व के रूप में एकीभाव अथवा अद्वैत की धारण का मुख्य कारण सदा ही रहा। यही आधार था कि वैष्णव वेदान्तियों ने गम्भीर चिन्तन करके धर्म, आचार और दर्शन को एक साथ लेकर भारतीय जीवन-दर्शन की समन्वयात्मक भावना को पुनरूज्जीवित एवं उपबृंहित किया। इस प्रकार विशुद्ध बौद्धिक दर्शन-विचार के

विकास को प्रोत्साहित न करने के कारण वैष्णव वेदान्तियों को भारतीय दर्शन-परम्परा के ह्रास का कारण माना जाता है।

वेदान्त की व्याख्या के रूप में वैष्णव-सम्प्रदायों की सफलता का प्रश्न है, इनमें सभी में अपनी साम्प्रदायिक मान्यता अधिक है और सही वेदान्त दर्शन का प्रतिनिधित्व कम। वेदान्ती ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के अधिक अनुकूल दिखायी पड़ते है, किन्तु शंकरचार्य का अद्वैतवाद उपनिषदों के सिद्धान्त की एक स्वतन्त्र व्याख्या के रूप में जाना जाता है, फिर भी ब्रह्म-तत्त्व सभी वेदान्तियों के सिद्धान्तों का सामान्य केन्द्र बिन्दु है अतः ये सभी वेदान्त दर्शन के सम्प्रदाय माने जाते है।

द्वैत वेदान्त का उद्भव और विकास - मध्वाचार्य वेदान्त-दर्शन की परम्परा में द्वैतवाद अथवा भेदवाद के संस्थापक है। व्यापक प्रसार एवं साहित्य की दृष्टि से शंकर-रामानुज के उपरान्त इनका स्थान है। पाश्चात्य चिन्तन में जैसे रहस्यवाद के सहजशत्रु के समान हेगेल-दर्शन प्रतिष्ठित हुआ, वैसे ही अद्वैत वेदान्त के प्रबल-प्रतिद्वन्द्वी के रूप में द्वैतमत की स्थापना हुई।[1] कान्ट तथा हेगेल के विरुद्ध रसेल की प्रतिक्रिया मध्वाचार्य की प्रतिक्रिया के समान मानी जा सकती है।[2]

मध्ववेदान्त - माध्वदर्शन मध्व का द्वैतवाद अन्य वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायों के समान शंकर के विरोध में सविशेष ब्रह्मवाद, परिणामवाद, जगत्सत्यत्व, भक्तिवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, तथापि कुछ अंशों में वैष्णवों का वेदान्त की परम्परा से हटकर द्वैतवाद या आत्यन्तिक भेदवाद का समर्थन करता है। इनके उल्लेखनीय सिद्धान्त निम्न है - पाँच प्रकार का भेद, अभिन्न-निमित्तोपादान कारण का खन्डन, भेद का प्रबल समर्थन एवं अभेद या अद्वैतवाद का घोर विरोध, मुक्त जीवों में तारतम्य, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का मेल-मिलाप, सांख्य के प्रकृतिवाद तथा न्याय के परमाणुवाद में समन्वय, साक्षी की धारणा, विशिष्ट देहात्मवाद आदि।

मध्व विष्णु को ही परम तत्व मानते है, अर्थात् उनसे श्रेष्ठ अन्य तत्त्व की कल्पना इस मत में नहीं है। जगत् उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार विष्णु क्योंकि यह जगत् भी ईश्वर से ही उत्पन्न हुआ है ऐसी दशा में जगत् की सत्यता

1 सी.डी.शर्मा- इडियन फिलासफी पृष्ठ 534

2 डॉ. नागराजशर्मा - रेन आफ रीयलिज्म, पृ. 1

अक्षुण्ण है। पाँच प्रकार के भेदों को स्वीकार करना ही नहीं बल्कि उस पर बल देना महत्त्वपूर्ण है। पाँच प्रकार के भेद निम्न है- 1- जीव तथा परमात्मा का भेद 2- ईश्वर का जड़ से भेद 3- जीव का जड़ से भेद 4- जीव का दूसरे जीव से भेद 5- एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। जीव के विषय में मध्वाचार्य कहते है- जीव भगवान् विष्णु का अनुचर है, वह स्वामी है और जीव दास है। जीव अपने कर्मो के अनुसार नीच-ऊँच गति को प्राप्त करते है तथा स्वर्ग, नरक और भूलोक में विचरण किया करते है। मुक्ति प्राप्त करने का साधन भक्ति है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तीन प्रमाण स्वीकार करते है, वेद को प्रामाणिक मानते हुए हरि, विष्णु, कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी देव की स्तुति नहीं करते है। गीता का यह वचन इस मत को सर्वथा मान्य है- वेदैश्यसर्वैरहमेववेद्यः यह श्रीकृष्ण का वचन है कि सब वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूँ। वेद का प्रतिपाद्य तथा समन्वय विष्णु में ही है।

माध्व-दर्शन में श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त भक्ति ज्ञान का विशेष महत्त्व है।[1] कर्म और अविद्या बन्ध के हेतु है तथा परब्रह्म के साक्षात्कार रूप ज्ञान से ही मोक्ष होता है।

वेद में देवों को सर्वनामवान् कहा गया है।[2] व्युत्पत्तिपूर्वक विष्णु को अन्य अनेक उल्लेखों के आधार पर उक्त रूप में स्वीकृत किया गया है। वैदिक साहित्य में मध्वाचार्य के अनुसार विष्णु ही सभी देवों के आधार एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देव है।[3] अनेक देवों की विस्तृत परम्परा में एकात्मकता की ओर बढ़ते पादक्षेपों से यही सहज एवं स्वाभाविक निष्कर्ष ग्रहीत हो सकता था कि किसी एक देवता को आधार मानकर उसे सर्वप्रमुख कहा जाता। मध्वाचार्य ने विष्णु को ईश्वर एवं सर्वोत्कृष्ट मानकर यही किया -

मध्व- यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः॥
तत्र तत्रस्थितौ विष्णुः तत्तच्छक्तिप्रबोधकः।
एक एव महाशक्तिः कुरूते सर्वमंजसा॥ - अनुव्याख्यान

1 माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहो हि भक्तिः। -तत्वप्रकाशिका, अणु. 3/2।

2 ऋग्वेद 1.134.45 यो देवानां नामथा एकएव'' 10.82.3

3 ''अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णु परमः। तदन्तरा सर्वेदेवता'' -ऐतरेय ब्राह्मण प्रथम पक्ति।

भारतीय चिन्तन स्वतन्त्र होने पर भी समन्वयहीन दृष्टिकोण नहीं रखता।[1] वैदिक विचारकों ने बहुधा वचनों को परस्पर संश्लिष्ट किया है।[2] एक देव की यही सर्वोत्कृष्टता द्वैत के विष्णु की सर्वातिशयता की प्रेरणा है।

मन्त्र एवं ब्राह्मण साहित्य के उपरान्त ब्रह्मणग्रन्थों के अंगभूत उपनिषदों में दार्शनिक विवेचन पर्याप्त स्थिरता एवं स्पष्टता के साथ प्राप्त होता है।

उपनिषदों में भी द्वैतात्मकता तथा अद्वयोन्मुक्ता दोनों प्रवृत्तियाँ बहुलता से प्राप्त होती है। इनका परस्पर संघर्ष चल रहा है। याज्ञवल्क्य एक ओर "**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**'' का उपदेश देते है, दूसरी ओर जनक की सभा में भेदपरक वाक्यों का उपन्यास करते है। श्वेताश्वतर-उपनिषद भेदभावी परम्परा के बहुत समीप है। सांख्य-दर्शन के विचार भी उसमें है। इसका प्रारमभ ही द्वैत को उपलक्षित करता है।

कि कारणं ब्रह्मकुतः स्म जाता जीवाम केन क्वच सप्रतिष्ठा।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वार्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

जड़ एवं चेतन का भेद स्पष्टतः स्वीकृत है। इन दोनों प्रकार के तत्त्वों को ईश्वर के अधीन रहना पड़ता है। श्वेताश्वतर का ईश्वर सम्बन्धी विवेचन मध्व सम्मत विष्णु के स्वरूप के समीपवर्ती है। श्वेताश्वतरोपनिषद 2/3

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।

भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेराः सर्वाधिपत्यं कुरूते महात्मा।।[3]

वैदिकेत्तर महाभारत, पुराणादि साहित्य में वैचारिक स्थिरता एवं स्पष्टता का आपेक्षिक अभाव मिलता है अनेक परस्पर विरोधी मत उपलब्ध है। महाभारत एवं पुराणादि को भी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक था। हरिवंश पुराण में विष्णु की महत्ता आख्यात है।[4] जीव को स्वयं कोई कार्य करने अथवा न करने का कोई अधिकार नहीं है।[5]

---

1 राधाकृष्णन् - इडियन फिलासफी भाग 1 पृ. 92

2 ऋग्वेद- इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्माश।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

3 श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो र्विभिनना नैको मुनिर्यस्यमतं प्रमाणम्। महाभारत 3.14.119

4 वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
जादावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते।। - हरिवंश 3/323

5 गीता 2/9 नाहं कर्त्ता न कर्त्तात्वं न कर्त्ता यस्तु सदाप्रभुः।

मध्वाचार्य ने अन्य साहित्य की अपेक्षा पांचरात्र साहित्य को बहुत महत्त्व दिया है। इसको श्रुति के समान सीमित अधिकारियों का विषय न मानकर वेदार्थ उपवृहंण के लिए सामान्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया।

व्योमसंहिता- मध्व द्वारा उद्धृत ब्रह्मसूत्र भाष्य 1.1.1

स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूनां तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता॥

मध्व का नैष्कर्म्य सिद्धान्त इस साहित्य पर ही आधारित है। ईसा की दसवीं शताब्दी से ही दक्षिण में वैष्णव मत द्वारा समर्पित भक्ति का प्रचार बढ़ने लगा था। अतः वेदान्त के मायावादी स्वरूप में परिवर्तन आना बहुत स्वाभाविक था। 'यामुनाचार्य' ने पूर्व विस्मृत बोधायन आदि आचार्यो को पुनरुज्जीवित किया। 'यामुनाचार्य' एवं रामानुज का उदय शंकरचार्य के विरूद्ध प्रतिक्रिया का परिचायक है। साथ ही इनके द्वारा द्वैतात्मक एवं यथार्थवादी विचारकों की पूर्वागत परम्परा की अविच्छिन्नता की ओर भी संकेत करता है। रामानुज के चित् और अचित् के परस्पर सम्बन्धों पर आधारित आपेक्षिक यथार्थवादी दृष्टि के कारण अनेक मतों का पुनरून्नयन हुआ। इसी बीच छठी सदी ईसवीं से निरनतर 12 वीं सदी ईसवी तक विकासशील शैव मत का प्रभाव बढ़ रहा था। नयनार सन्तों की रचनाएं वैष्णवमत के विरोध में जनता के प्रभाव स्थापित कर रही थी। इन सम्पूर्ण वैचारिक परिस्थितियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अति-यथार्थवादी विचारधारा की मध्वचार्य द्वारा स्थापना की गयी। स्रोत की दृष्टि से रामानुज ने केवल वैदिक साहित्य को ही विष्णु के स्वरूप का आधार माना, जब कि मध्वचार्य ने पुराण तथा पंचरात्र को भी ग्रहण करके अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया।

मध्वचार्य द्वैत के संस्थापक है। यहाँ तक भारतीय दर्शन के विकास में मौलिकता मिलती है मध्वचार्य के ग्रंन्थों की संख्या 36 है -

इनको चार भागों में बाँटा जा सकता है -

1. प्रस्थानत्रयी का भाष्य- ब्रह्म सूत्र गीता तथा प्रमुख उपनिषदों की द्वैतपरक टीका।

2. दशप्रकरण- द्वैत विचारों के प्रतिपादक, स्वतंत्र रूप से लिए गए खण्डन-मण्डन परक ग्रन्थ।

महाभारत 12.135.84

3. भागवत तात्पर्य निर्णय एवं ऋग्भाष्य।

4. अन्य स्फुट रचनाएं

मध्वचार्य के उपरान्त द्वैत की परम्परा में ऋषिकेशतीर्थ की 'सम्प्रदाय पद्धति' उल्लेखनीय है। इसमें मध्वचार्य के जीवन-वृत्त के साथ-साथ उक्त सम्प्रदाय के आचार-व्यवहार सम्बन्धी विवेचन की है। ऐतिहासिक दृष्टि से पद्मनाभ तीर्थ के विषय में महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है।

मध्वचार्य के अनुज विष्णुतीर्थ ने 'संन्यासविधि' नामक पद्यात्मक ग्रन्थ में विष्णुभक्त के अधिकारी का विवेचन किया है। प्रारम्भिक रचनाओं की गणना में मध्वचार्य की अनुजा कल्याणदेवी के ग्रन्थ 'कृष्णस्तोत्र', अणुवायुस्तुति, लघुतारतम्यस्तोत्र है। परम्परानुसार त्रिविक्रम पंडित की भगिनी कल्याणदेवी ने भी 'लघुवायुस्तुति' नामक ग्रन्थ की रचना की।

त्रिविक्रम पंडित का द्वैत के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'मध्वविजय' ग्रन्थ के लेखक नारायणाचार्य थे।

मध्व के परवर्ती आचार्य

पद्मनाभ तीर्थ - (1318-28) - मध्वभाष्य पर सर्वप्रथम टीकाकार की प्रतिष्ठा इन्हीं को प्राप्त है। यह मध्वचार्य के वरिष्ठ शिष्यों में थे।

नरहरितार्थ - मध्वचार्य का प्रत्यक्ष शिष्य था। 'गीताभाष्य की भाव प्रकाशिका' नामक टीका लिखी।

अक्षोम्यतीर्थ- मध्व के प्रत्यक्ष शिष्यों में अन्तिम पीठाधिपति के रूप में द्वैत-परम्परा स्मरण करती है।

इन टीकाकारों के उपरान्त 'जयतीर्थ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनसे पूर्व द्वैत-वेदान्त की परम्परा में उनके समान विलक्षणता, पाण्डित्य का अभाव है। जयतीर्थ के मार्ग का अनुसरण करने वाले विचारकों में 'व्यासतीर्थ' का स्थान बहुत ही महत्त्व का है। गंगेश उपाध्याय द्वारा प्रचारित मार्ग का व्यासतीर्थ ने पूर्ण उपयोग किया, इसके परिणामस्वरूप द्वैत एवं अद्वैत लेखकों के द्वारा परस्पर प्रतिद्वन्दी साहित्य का विपुल निर्माण हुआ। व्यासतीर्थ द्वैतमत के वरिष्ठतम् आचार्यों में है। जयतीर्थ के द्वारा प्रारम्भ की गयी परम्परा को व्यासतीर्थ ने अपने प्रगाढ पाण्डित्य से समुज्ज्वल बनाया, एवं न्याय की शैली में मध्व सिद्धान्त को पूर्ण शास्त्रीयता प्रदान की। विजयीन्द्रतीर्थ तथा वादिराजतीर्थ

दोनों ही व्यासतीर्थ के शिष्य थे। बंगाल का भक्तिपरक वैष्णव सम्प्रदाय व्यापक मात्रा में मध्वचार्य से प्रभावित था।

आधुनिक युग - सन् 1830 के उपरान्त द्वैत-वेदान्त के विकास में नए युग का सूत्रपात हुआ। इसका अभिधान आधुनिक युग के द्वारा किया जा सकता है। इस काल में योग्य संस्कृत विद्वानों का उद्भव हुआ- आऽवि जयतीर्बाचार्य, काशीतिम्मण्णाचार्य, हुलुगी श्रीमद्यपत्याचार्य, आनेत्पाचार्य, कोचीरंगार्य, भागवत रामण्णाचार्य तथा सतराघवेन्द्राचार्य आदि विख्यात आचार्य है। वर्तमान शती के प्रारम्भ में नयी शिक्षा-दीक्षा के अनुसार द्वैतमत ने नया रूप बदला। तिरूपति में 1878 ई. में श्रीमन्मध्वसिद्धान्त उन्नाहिनी सभा की स्थापना हुई। कुम्भकोणम् के टी.आर.कृष्णमाचार्य ने द्वैतग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य किया। सुब्बाराव ने ब्रह्मसूत्रभाष्य तथा गीताभाष्य का प्रथम आंग्लानुवाद किया। पद्मनाभाचार्य ने आंग्लभाषी तथा कन्नड़ भाषा में ''लाइफ एण्ड टीचिंग ऑफ मध्व'' की रचना की। इन्हीं के परिणामस्वरूप ग्लैसनेप ने ''मध्वाज फिलासफी डेस विष्णुग्लावेन'' प्रकाशित किया। 1926 ई. में 'मध्वमुनि-सेवा-संघ' की स्थापना हुई। आर.नागराज शर्मा ने ''रेन ऑफ रियलिज्म इन इंडियन फिलासफी'' प्रकाशित की। डा. एस.एन.दास गुप्ता ने ''ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी'' के चतुर्थ भाग में मध्व गत की प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत की।

''नेशनल सेन्टर ऑफ सांइटिफिक रिसर्च'' फ्रांस के अनुव्याख्यान का फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया। भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित ''मध्वाज टींचिग इन हिज ओन वर्डस'' तथा ''ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत स्कूल ऑफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर'' दो भागों में डा. बी.एन.के.शर्मा ने लिखा। द्वैत सिद्धान्त कार्यालय, पूना तथा मध्व महामण्डल बंगलौर, प्रचार एवं प्रकाशन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त कर रहे है। डा. एन.के. नारायण ने ''आउट लाइन ऑफ मध्व फिलासफी'' की रचना की।

द्वैतात्मक चिन्तन की इस व्यापक एवं निरन्तर विकासशील परम्परा का स्वरूप भारतीय दर्शन के इतिहासकारों द्वारा प्रायः उपेक्षित रहा। दक्षिण-भारत के जन-जीवन पर आज भी इसका बहुत गम्भीर प्रभाव है।

इस प्रकार किसी भी सिद्धान्त की वंश-परम्परा को जाने बिना उसका ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है, आचार्य मध्व के दर्शन के ज्ञान के लिए उनकी पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

द्वितीय अध्याय

मध्वाचार्य व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व

मध्वाचार्य का व्यक्तित्त्व- मध्वाचार्य के जीवन से भारतीय-दर्शन को एक नवीन आलोक-पथ की प्राप्ति हुई। इस आलोकपथ के द्वारा ही लोगों को उनकी दैवी प्रतिभा का भी दर्शन प्राप्त हो गया। अतिशयित भावुकता मिथ्या एवं अनिश्चयता पूर्ण सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न एक यथार्थवादी जीवन दर्शन भारतीयों को प्राप्त हुआ। भारतीय जनों को सर्वप्रथम आचार्य मध्वाचार्य ने अत्यन्त दृढ़ता से बताया कि यह जगत् तथा जीवन सत्य है और इससे संन्यास लेकर भागना व्यर्थ है, क्योंकि कर्म संन्यास का तो अर्थ ज्ञानपूर्वक कर्म करना है। विश्व का रचनाकार ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है तथा जीव इसका दास है। यह जीव अपनी सीमाओं में रहकर ही ईश्वर की सेवा अर्थात् भक्तिमार्ग पर चलकर उसकी प्रसन्नता से अपने साध्य मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

निज-द्वैतामृत-बृष्ट्या, निखिलो येनाऽपि जीवितो लोकः।
स जयति धीराऽऽथारः, श्रीमन्मध्वाचार्याऽऽध्न्यो मेघः॥

अर्थात् अपने द्वैत-सिद्धान्त रूप अमृतमयी दृष्टि के द्वारा, जिन्होंने सभी जनों को जीवित कर दिया, एवं जाय धीर गम्भीर विद्वानों के आधार-स्वरूप हैं, 'श्रीमन्मध्वाचार्य' नामक जगत् प्रसिद्ध वे अपूर्व मेघ, सदैव सर्वोत्कर्षपूर्वक विद्यमान हैं, अर्थात् उनकी सदैव जय-जयकार हो।[1]

द्वैत-सिद्धान्त-प्रतिष्ठापनाचार्य जगद्गुरू श्रीमन्मध्वाचार्य, दिव्य वायु के तृतीय अवतार कहे जाते हैं। इन्होंने आचार्य अवतार के स्वरूप का निर्देश करते हुए अपने सिद्धान्त के बड़े-बड़े ग्रन्थों के अन्त में स्वयं ही इस प्रकार कहा है-

---

1 यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने रूपाणि दिव्यान्यंल
षट्तद्दर्शतंमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत् ।
वायो रामवचनीयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपु-
र्मध्वो यत्रु तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृताः केशवे।।
(महाभारततात्पर्यनिर्णय 32/181)

वेद के वचनों में मूल रूप जिस वायु के हनुमान्, भीम, श्रीमध्वाचार्य नामक तीन दिव्यरूप कहे गये हैं, उसी वासुदेव का तद् (वह) मूलरूप, वट् अर्थात् बलात्मक हैं, एवं दर्शते (दर्शनेन ज्ञानेन तं विस्तृतं) अर्थात् ज्ञान के द्वारा विस्तृत है, तथा भर्गः अर्थात् भरण, पोषण करने वाले तेज से युक्त हैं और महत् अर्थात् सकल जगत् के द्वारा पूज्य है, इत्थम् मूलरूप की तरह ही अवतार के लिए निहित (स्थापित) है। वायु के उन तीन रूपों में से रामवचोनयं (रामस्य वचांसि सीतां प्रति नयतीति रामवचोनयं। अथवा रामवचांसि रामविषयक रामायणादि वचांसि सनकादीन् प्रति नयतीति तथोक्तम्) अर्थात् श्रीरामजी के सन्देश रूप वचनों को सीताजी के प्रति पहुँचाने वाले, अथवा श्रीराम जी के चरित्रविषयक रामायण आदि वचनों को सनकादिकों के प्रति पहुँचाने वाले श्रीहनुमान् रूप वाले जाय अवतार हैं, वे वायु के प्रथम अवतार कहे जाते हैं। एवं पृक्षः (पृतनायाः कौरवसेनायाः क्षयो यस्मात् सः पृक्षः भीमः इत्यर्थः। पृषोदरादित्वात् साधुः) और कौरवों की सेना को विनष्ट करने वाले जाय भीमसेन है, वे वासुदेव के द्वितीय अवतार कहे जाते हैं, मध्वाचार्य का अवतार शाके 1160 में आश्विन शुक्ला विजयादशमी के मध्याह्न के समय हुआ है। जिसका वर्णन 'महाभारततात्पर्य निर्णय' - ग्रन्थ में क. 32 श्लोक 131 में इस प्रकार मिलता है-

चतुःसहस्त्रे त्रिशतोत्तरे गते, संवत्सराणां तु कालौ पृथिव्याम्।
जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो, दैत्यैर्निगूढं हरितत्वमाह॥

अर्थात् कलियुग में चार हजार तीन सौ वर्ष बीत जाने के बाद, उन्हीं भीमसेन ने, ब्राह्मण का शरीर धारण करने वाले श्रीमध्वाचार्य के रूप से पुनः प्रगट होकर, दैत्यों के द्वारा छिपाए हुए, श्रीहरि के तत्त्व को कहा है।

आचार्य मध्वाचार्य का आविर्भाव 13 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कर्नाटक राज्य के उडुपी क्षेत्र में मध्यगयेह नामक धार्मिक वैदिक ब्राह्मण के घर हुआ था। इस समय उत्तर भारत का विशाल भारतीय क्षेत्र अपने गौरवशाली परम्पराओं के बावजूद भी खिलजी तथा गुलामों के दासत्व को स्वीकार कर चुका था तथा मलिक काफूर सुदूर दक्षिण रामेश्वरम् तक धावा बोल चुका था। सम्पूर्ण देश के नैतिक, आध्यात्मिक, एवं वैचारिक मार्ग दर्शन का आधिपत्य 'जगन्मिथ्यात्वाद' एवं 'कर्मसन्यासवाद' ने अपने हाथों में ले रखा था। इस राजनीतिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक पतन के कारण मानव जीवन असुरक्षित एवं जनमानस चेतनाशून्य सा हो गया था।

यथार्थ जीवन को गतिशील बनाने के लिए एक ऐसे प्रकाशपुंज के आलोक की आवश्यकता थी, जाय कर्म संन्यास एवं जगन्मिथ्यात्वावाद को दूर करके जन समास को यथार्थ आत्मबोध करा सके, जिससे वह पराजय की कुण्ठा से उबर जाय। यह प्रकाशपुंज आचार्य मध्वाचार्य के रूप में हमारी धरती पर अवतीर्ण हुआ, जिसके जगत् सत्यत्वाद, जीवभेदवाद, हरिसर्वोत्तमत्वावाद की क्रांतिकारी विचारों के आलोक से भारतीय जीवन भावुक एवं खोरवती मायावादी मिनारों से उतरकर यथार्थ भूमि पर खड़ा हो गया।

मध्वाचार्य का समय निर्धारण- मध्वाचार्य ने अपने ग्रंथ ''महाभारत तात्पर्य निर्णय'' में अपनी जन्म-तिथि 'कलि' 4300 दी है। मध्वाचार्य के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है और जाय भी जानकारी है वह मध्वाचार्य के शिष्य त्रिविक्रम के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा रचित 'मध्वाचार्यविजय' और 'मणि मंजरी' से प्राप्त होती है।

कहा जाता है कि कालिदास की प्रवसता के कारण, भगवत् सम्बन्धी विज्ञान जब विनष्ट हो चला, तब ब्रह्मा आदि देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की, ''हे वायो! तुम भूमि पर अवतीर्ण होकर मेरे सद्गुणों का निर्णय कर दो, एवं शास्त्रों के वास्तविक तात्पर्य को प्रगट कर दो।'' इस प्रकार की आज्ञा, वासुदेव ने शिरोधार्य कर ली। तथा उसी समय चिन्ता से व्याकुल हुए सज्जनों की प्रसन्नता के लिए, रजनीपीठपुर निवासी भगवान् किसी सीधे-सादे पुरूष में प्रविष्ट होकर बोले कि साधुओं के हितार्थ, दिव्यवायु, शीघ्र ही अवतार लेगा।'' दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में धनुषतीर्थ के निकट, 'पापनाशिनी' नदी के किनारे 'पालिका' नामक क्षेत्र है, उसी क्षेत्र में श्रीमन्मध्वाचार्य के माता-पिता निवास करते थे माता का नाम 'वेदवती', तथा पिताजी का नाम पण्डितश्रीमध्यगेह भट्ट था। माता-पिता के हृदय में साधारण पुत्र की वासना नहीं थी, बल्कि मानव-मात्र की सन्देह-ग्रन्थी को काटने वाली किसी लोकोत्तर पुत्र को चाहते थे, ऐसा पुत्र भगवत्कृपा के बिना नहीं प्राप्त हो सकता था। यह विचार करके धर्मपत्नी सहित 12 वर्ष तक तितिक्षापूर्वक भगवान् की यथेष्ट सेवा की उन्हीं के अनुग्रह से वायु के तृतीय अवतार 'श्रीमध्वाचार्य' को ही पुत्र रूप में प्राप्त किया। पिता ने पुत्र का जातकर्मादि संस्कार स्वयं करके पुत्र का नाम वासुदेव रख दिया।

वासुदेव के अवतार के अनुकूल 'वासुदेव' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- ''वाऽर्थं ज्ञानार्थं जातः वासुदेवः इति वासुदेवः मध्यमपदलोपी समासः''

अथवा वासुदेव भगवान् की भक्ति में निरत होने के कारण, इनका 'वासुदेव' नाम सार्थक ही था।

बालक वासुदेव, उपनयन संस्कार के बाद, अध्ययनार्थ गुरूग्रह में गये वहाँ एक दिन पढ़ने में शिथिल तथा अन्यमनस्क देखकर गुरुदेव की फटकार लगाने पर वासुदेव ने कहा- गुरुदेव पढ़े हुए पाठ को बारम्बार पढ़ने में मेरी रुचि नहीं है, मुझे नया पाठ पढ़ाइये, तब गुरुदेव ने कहा यदि यह पाठ तेरा पढ़ा हुआ है तो इससे आगये की संहिता का पाठ मुझे सुना दो।'' उसके बाद वासुदेव ने, केवल गुरुदेव के ही नहीं, अपितु देवताओं के भी आश्चर्यजनक, संहिता का पाठ सुना दिया।

गुरुकुल निवास समाप्त हो जाने के पश्चात्, जगद्गुरु श्रीवासुदेव ने, जगत् में भगवान् की विशुद्ध भक्ति के प्रचारार्थ संकल्प लेकर 11 वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। उस समय रजतपीठपुर में **श्री प्राज्ञतीर्थयति** के शिष्य, **श्री अच्युतप्रेक्षयति** रहते थे एक दिन श्री हरि ने, किसी भक्त में प्रविष्ट होकर, इनको आदेश दिया कि ''आगये होने वाले, तुम्हारे शिष्य के द्वारा ही, तुमको वास्तविक तत्त्व का ज्ञान, प्राप्त हो जायगा।'' अच्युतप्रेक्ष जी उस प्रकार के शिष्य की प्रतीक्षा में थे। अतः वासुदेव जी ने उन्हीं को श्रीगुरुदेव के रूप में प्राप्त कर लिया। 'प्रणव' जप के स्वतः मुख्याधिकारी होकर भी, लोक शिक्षार्थ श्री गुरुदेव से ही प्रणव के जाप का उपदेश ग्रहण किया। उस समय गुरूदेव ने, गुणों के अनुसार श्री वासुदेव जी का नाम 'पूर्णप्रज्ञ' रख दिया। 'पूर्णाप्रज्ञा यस्य सः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, उनका यह नाम सार्थक ही रखा गया।

श्री अच्युतप्रेक्षजी ने अपने शिष्य पूर्णप्रज्ञजी के सहित, श्रीहरि को जब साष्टाङ्ग प्रणाम किया, तब किसी मनुष्य में प्रविष्ट हुए श्रीहरि ने कहा कि हे अच्युतप्रेक्ष! तत्त्वज्ञान की इच्छा से की हुई हमारी सेवा के मूर्तिमान फल को ग्रहण करो।'' इस प्रकार कहकर पूर्णप्रज्ञ को अच्युतप्रेक्ष को अर्पण कर दिया।

गुरुदेव की आज्ञा से मायावादखण्डन, उपाधिखण्डन, श्रीविष्णुतत्त्वनिर्णय, तत्त्वसंख्यान आदि ग्रन्थों की रचना की। बदरिकाश्रम में श्रीवेदव्यास जी ने आचार्य को श्रीगीतातात्पर्य, महाभारततात्पर्य आदि ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी।

श्री अच्युतप्रेक्षाचार्य ने आचार्य मध्वाचार्य को 'इष्टसिद्धि' ग्रन्थ का उपदेश दिया और इनकी प्रतिभा और विद्वता से अभिभूत होकर इन्हें 'आनन्दतीर्थ' नाम से सुशोभित करके मठाधिपति और वेदान्तसाम्राज्याधिपति के पद पर अभिषिक्त किया। गद्दी पर बैठने के पश्चात् आचार्य ने सर्वप्रथम दक्षिण भारत में अपने मत का प्रचार किया। अनेक विरोधियों को परास्त करने के बाद उडुपी लौटकर 'गीताभाष्य' की रचना की। आचार्य ने उत्तर भारत की तीन यात्रायें की थी, इन्हीं में एक बार बद्रीनाथ में पधार कर भगवान व्यासदेव से गीताभाष्य परा साक्षात् सम्मति प्राप्त की वहाँ से व्यासदेव की ब्रह्मसूत्र भाष्य लिखने की आज्ञा प्राप्त कर, लौटकर गंगातट पर ही कहीं ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना की।

इस प्रकार श्रीमध्वाचार्य ने, अनेक ऐश्वर्यो के द्वारा, बहिर्मुख व्यक्तियों को भी, श्रीहरि के सम्मुख बना दिया और सज्जन व्यक्तियों को शास्त्रों के वास्तविक सिद्धान्तों के द्वारा, भगवद्भक्ति में निमग्न कर दिया। इस प्रकार जगत् के अलंकारस्वरूप, जगद्गुरु श्रीमध्वाचार्य के और भी बहुत से चरित्र हैं, जिनके श्रवण, मनन एवं कथन आदि के द्वारा, लोगों को दोनों लोकों में अभीष्ट सिद्ध प्राप्त हो जाती है।'' इसबात को स्वर्गस्थ देवगण भी कहते रहते हैं।

एक बार पद्मतीर्थ ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं मध्वाचार्य सिद्धान्त का विरोध कर दूँगा।'' उनकी यह प्रतिज्ञा कथनमात्र ही रह गयी। श्रीमध्वाचार्य का द्वैतमत, किसी प्रकार भी खण्डित नहीं किया जा सकता है, तथापि यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। यदि इस मत का खण्डन, वाद-विवाद से नहीं हो सकेगा तो दिव्यमन्त्र एवं औषधियों के बल से दूसरों को पराजित कर देगें। उनके सत्कार का निकारण कर देंगये, पुस्तक आदि को छीन लेंगये, ''यह तत्त्ववाद तो नवीन है, विश्वास के योग्य नही है, इस प्रकार कहते रहेगये, उनके ऊपर मिथ्यादोषों का आरोपण करते रहेंगये। इस प्रकार मायावादियों की प्रेरणा से, अपने सामने शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हुए पुण्डरीकपुरी को हटाकर श्री मध्वाचार्य ने श्रीहरि की प्रसन्नता के लिए विश्वभर को चकित करने वाली, वेद व्याख्या कर दी।''

मध्वाचार्य के छोटे भाई विष्णुतीर्थ ने सन्यास ग्रहण करके, श्री मध्वाचार्य की सर्वोपरि कृपा प्राप्त कर ली। दूसरे शिष्य श्री पद्मनाभतीर्थ श्रीमध्वाचार्य के द्वारा, भक्तिमयी सद्विद्या का लाभ प्राप्त करके उन्हीं के शिष्य होकर उनके अनुव्याख्यान ग्रन्थ की 'सन्न्यायरत्नावली' नामक टीका की रचना करके, विशिष्ट विद्वानों की सभाओं में महान् सम्मान के पात्र बन गये।

मध्वाचार्य जी के हृषीकेशतीर्थ आदि और भी बहुत से विरक्त शिष्य प्रशिष्य थे। विरक्त शिष्य अपने सदुपदेश से जनता का कल्याण करते थे एवं गृहस्थ शिष्य उनकी सेवा के द्वारा, अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते थे। इस प्रकार सभी शिष्य, श्री मध्वाचार्य के अनुग्रह से समुचित गति को प्राप्त हो गये।

मध्व की ऐश्वर्य प्रकाशमयी अनेक लीलाएं - श्रीमध्वाचार्य के किसी विशिष्ट शिष्य ने, अपने गुरुदेव की अनेक कथाएं, भक्तों को इस प्रकार सुनायी-

1. एक शूद्र द्वारा यह कहने पर कि 'वेद अप्रमाणिक है' क्योंकि वेदों में जाय लिखा है वह फल अब प्रत्यक्ष नही दिखाई देता है। मध्वाचार्य किसी औषधि के बीज को, हाथ में लेकर किसी विशिष्ट सूक्त के मन्त्रों का जाप करके, क्षणभर में ही अंकुर, पत्र, पुष्प, फल आदि दिखाकर कहा कि योग्य अधिकारियों के लिए, मन्त्रों का फल उपलब्ध होता है।

2. श्री मध्वाचार्य के उत्कर्ष को न सहने वाले, दुष्टों के द्वारा प्रेरित हुआ एक शूद्र राजा, आचार्यदेव को मारने की इच्छा से, उनके निकट आया, किन्तु उनके सूर्य के समान असह्य तेज को देखकर, चकित होकर, चरणों में गिर पड़ा।

3. श्री धन्वन्तरि क्षेत्र में जाकर, श्रीमध्वाचार्य जी ने, वहाँ के किसी भक्त के आनन्द के लिए, (श्रीकृष्णामृतमहार्णव) नामक ग्रन्थ की रचना कर दी अथर्ात् समस्त पुराणों से भक्तिमय सिद्धान्तों का संग्रहरूप ग्रन्थ लिख दिया।

4. श्रीमध्वाचार्य साधु होने के कारण कर्मकाण्ड नहीं जानते होंगये इस विचार से कुछ दुर्बुद्धि वाले व्यक्ति ने, उनकी परीक्षा ली। आचार्यदेव ने उनके मन्त्रों को भली प्रकार प्रयोग पूर्वक समझाकर, उनको हराकर, अपने शिष्यों के हितार्थ 'कर्म निर्णय' नामक ग्रन्थ की रचना कर दी।

5. आचार्यवर्य की सहनशीलता, करुणा, महिमा ऐसी अपार थी कि दुष्टजनों के दुर्व्यव्यहारमय दुर्वचनों को, अनायास सह लेते थे।

ये सब, पूर्णोक्त ऐश्वर्यमय चरित, यद्यपि महान विचित्र हैं, तथापि त्रिभुवन् के नियामक वासुदेव के लिए, कुछ अद्भुत नहीं है। इतने पर भी अपना कर्त्तव्य समझ कर अपनी जिह्वा को पवित्र करने के लिए सभी के द्वारा वर्णन किये जाते हैं।

मध्वाचार्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ - आचार्य मध्वाचार्य की रचनाएं अनेक हैं तथा इनके बड़े कर्मठ जीवन की प्रसिद्धि है। मुख्य ग्रन्थों में प्रस्थानत्रय पर इनके भाष्य हैं- ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषदों पर भाष्य और भगवद्गीता पर भाष्य। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मसूत्र' पर उनका 'गुणव्याख्यान' नामक ग्रन्थ भी है। भागवत पुराण पर भागवत तात्पर्य-निर्णय टीका हैं। 'उपाधिखण्डन' मायावादखण्डन, मिथ्यात्वानुमानखण्डन, तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान आदि भी इनकी रचनाएं बतायी जाती हैं। इनके ब्रह्मसूत्र भाष्य पर तीन टीकाएं भी हैं- त्रिविक्रम पण्डिताचार्य की तत्त्वप्रदीपिका, पद्मनाभाचार्य की 'सर्त्तकदीपावली' तथा जयतीर्थ की तत्तवप्रकाशिका जयतीर्थ की प्रमाणपद्धति और शलारिशेषाचार्य की प्रमाणचन्द्रिका मध्वाचार्य-वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा पर प्रमुख रचनाएं हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना भी समय पर माध्व मत के अनुयायियों द्वारा होती रही हैं।

मध्वाचार्य की रचना 'महाभारततात्पर्यनिर्णय' बत्तीस अध्यायों की है, तथा छन्छबद्ध है। प्रथम अध्याय में मध्वाचार्य कहते हैं- चार वेद, पंचरात्र, महाभारत, मौलिक रामायण व ब्रह्मसूत्र ही केवल प्रामाणिक श्रुति मूल पाठ हैं, तथा जाय कुछ भी उनके विरोध में है वह असत्य मानना चाहिए। 'वैष्णवपुराण' मुख्यतः पंचरात्र के स्पष्टीकरण मात्र होने के कारण सत्यशास्त्र मानना चाहिए। मनु तथा अन्य लोगों द्वारा रचित 'स्मृति' साहित्य उसी सीमा तक सत्य है जहाँ तक वह वेदों, महाभारत, पंचरात्र तथा विष्णुपुराण के उपदेशों के विरोध में न हो।[1]

---

1 ऋग-आदयश्चत्वारः पंचरात्रं च भारतं
मूल-रामायणं ब्रह्म-सूत्रम् मानं स्वतःस्मृतम्
- महाभारततात्पर्य निर्णय 1:30
अविरूद्धं तु यत् तु अस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा
एतद्-विरूद्धं यत् तु स्यान् न तन् मानं कथंचन
वैष्णवानि पुराणानि पांचरात्रात्मकत्वतः
प्रमाण्न्येवम् मान्वाद्याः स्मृतयोप्यनुकूलतः।।
-महाभारत-तात्पर्य-निर्णय 1:31-32

मध्वाचार्य के अनुसार-विष्णु ही सच्चे भगवान् है। जगत् का प्रवाह ययार्थ है, और वह जीव एवं ईश्वर, जीव एवं जीव, जड़ एवं ईश्वर, जड़ एवं जड़ तथा जड़ एवं जीव के पंच भेदों से समन्वित है।[1]

केवल देवतागण और श्रेष्ठ मानव, ज्ञान एवं ईश्वरानुग्रह के द्वारा मोक्ष की प्राप्त कर सकते हैं, साधारण मानव जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में भटकते रहते हैं, और निकृष्ट लोग नर्क से अभिशापित होते हैं। ईश्वर केवल 'भक्ति' से प्रसन्न होता है किसी अन्य बात से नहीं, तथा केवल वही मोक्ष प्रदान कर सकता है।

मध्वाचार्य द्वितीय अध्याय में कहते हैं कि 'महाभारत' एक अन्योक्ति है जिसमें शुभ और अशुभ का संघर्ष बताया गया है, शुभ का प्रतिनिधित्व पाण्डव करते हैं, तथा अशुभ का प्रतिनिधित्व धृतराष्ट्र के पुत्र करते है। मध्वाचार्य 'महाभारत' में दी गयी कथा के क्रम का अनुसरण नहीं करते हैं बल्कि 'पुराणों' एवं 'रामायण' से चुने हुए कथानकों को कथा में जायड़ देते हैं। सामान्य कथा के निरूपण में भी वे भीम एवं अर्जुन की अतिश्रेंष्ठता पर बल देते हैं। इस प्रकार वे 'रामायण' के सारांश तथा 'भागवतपुराण' में नयी कृष्ण की कथा को 'महाभारत' का अंग मानकर प्रस्तुत करते हैं।

मध्वाचार्य की महाभारत कृति पर अनेक टीकायें लिखी गयी हैं- जनार्दनभट्ट द्वारा लिखी गयी 'पदार्थ-दीपिका' वरदराज द्वारा लिखित 'महासुबोधिनी' अथवा प्रकाश', वादिराज स्वामी की टीका, विठ्लाचार्य सूनु की टीका, व्यासतीर्थ की टीका, सत्याभिनव यति द्वारा लिखित 'दुर्घटार्थ प्रकाशिका' 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या' (इसे 'पदार्थ-दीपिका' भी कहते हैं) श्रीनिवास की महाभारत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या' (इसे 'भावचन्द्रिका' भी कहते हैं) 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णयानुक्रमणिका' जाय पद्य में सामान्य सारांश देने वाली एक छोटी सी रचना है। कृष्णाचार्य, लक्ष्मणसिंह, जयखण्डित सिंह द्वारा भी अन्य टीकाएॅ लिखी गयी है।

---

1 जगतः प्रवाहः सत्योऽयं पंच-भेद समन्वितः
जीवेशपोर भिदा चैव जीव-भेदः परस्परम्
जड़ेशयो~ जड़ानां च जड़-जीव-भिदा तथा
पंच भेदा इमे नित्याः सर्वावस्थासु नित्यशः
मुक्तानां च न हीयन्ते तारतम्यं च सर्वदा।
-महाभारततात्पर्य निर्णय 1: 69-71

'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' में मध्वाचार्य 'भागवत पुराण' के बारह स्कन्धों से कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों का चयन करते हैं, और प्रत्येक 'स्कन्ध' के चुने हुए अध्यायों में से चुने हुए श्लोकों की टिप्पणियों को जोड़ देते हैं। वे कभी-कभी अपने मत की पुष्टि अन्य पुराणों के निर्देशन द्वारा करते हैं, जिससे मध्वाचार्य का द्वैतवादी मत भागवत की सत्य व्याख्या प्रतीत हो। मध्वाचार्य इस ग्रंथ का अंत 'भागवत' के सच्चे मत के रूप में अपने मत का संक्षिप्त सारांश देकर करते हैं।

'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' पर कुछ लेखकों की टीकएँ इस प्रकार हैं- भागवत-तात्पर्य-व्याख्या' (जिसे तात्पर्य-बोधिनी कहते हैं।) श्रीनिवास द्वारा लिखित गद्य में 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या प्रकाश' जदुपति, चलारि और वेद-गर्भनारायणाचार्य की 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय टीका'। 'गीता-तात्पर्य' गद्य एवं पद्य में लिखी गयी रचना है, इसमें मध्वाचार्य ने गीता का सार-तत्व दिया है। यह गीता के अट्ठारह अध्यायों का क्रमिक सारांश है। इस सारांश में 'गीता' से श्लोक उद्धृत करके क्रमबद्धता लाने के लिए बीच-बीच में लघु गद्य मूल पाठ दिये गये हैं, जाय कहीं तो व्याख्यात्मक है, कही 'गीता' के श्लोकों के 'प्रसंग' एवं 'प्रयोजन' से परिचय कराते हैं, और कहीं-कहीं शंकराचार्य द्वारा दी गयी 'गीता' की अद्वैतवादी व्याख्या के विरोध में गद्य में विवेचन का उपक्रम भी करते हैं।

गीता-तात्पर्य पर जयतीर्थ की टीका का नाम 'भगवद् - गीता-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या' अथवा 'न्याय-दीपिका' है। विट्ठल-सुत-श्रीनिवासाचार्य अथवा ताम्रपर्णी-श्रीनिवासचार्य ने न्याय-दीपिका पर 'तात्पर्य-दीपिका-व्याख्या-न्याय-दीप-किरणावती' नामक टीका लिखी। गीता-तात्पर्य पर दो अन्य टीकएँ पद्मनाभतीर्थ द्वारा 'तात्पर्य टिप्पणी' तथा सत्यप्रज्ञ-भिक्षु द्वारा 'न्याय-दीप-भाव-प्रकाश' लिखी गयीं।

मध्वाचार्य ने 'गीता-भाष्य' नामक रचना भी लिखी जिसमें महत्त्वपूर्ण 'श्लोक' अध्याय क्रम से लेते हैं और उन पर टीका करते समय कई विवादास्पद महत्त्वपूर्ण समस्याओं की विवेचना करते हैं। मध्वाचार्य, कुमारिल का अनुसरण करने के कारण कहते हैं कि 'शास्त्र' अपरिज्ञेय' (अनुभवातीत उद्गम के) होने के कारण पूर्वतः सत्य है। केवल अधिकाधिक ज्ञान और बढ़ती हुई 'भक्ति' की इच्छाएँ ही ऐसी इच्छाएँ हैं जिनका परित्याग नहीं करना चाहिए, यदि कर्मों से किसी फल की उत्पत्ति न हो तो भी कम से कम उनसे ईश्वर को

संतोष होता है क्योंकि 'शास्त्रों के आदेशों का पालन करके व्यक्ति ने ईश्वर के आदेशों का पालन किया है। मध्वाचार्य के अनुसार-मोक्ष की अवस्था में जीव केवल ईश्वर के निकट आ जाता है, किन्तु कभी अपने व्यक्तित्व को नहीं खोता।

मध्वाचार्य की 'गीता-भाष्य' पर अनेक रचनाएॅं हैं-राघवेन्द्र की 'गीतार्थ-संग्रह' राघवेन्द्र यति की 'गीता-विवृत्ति', विद्याधिराज भट्टोपाध्याय की 'गीता-विवृत्ति' जयतीर्थ की 'प्रमेय-दीपिका' जिस पर 'भाव-प्रकाश' नामक एक अन्य टीका लिखी गयी है। मध्वाचार्य ने 'अनुभाष्य' नामक एक अन्य रचना लिखी जिसमें 'ब्रह्मसूत्र' के प्रमुख विषयों एवं अभिप्राय का संक्षिप्त सारांश है। अनुभाष्य पर जयतीर्थ, अनन्तभट्ट, चलारि-नृसिंह, राघवेन्द्रतीर्थ और शेषाचार्य ने टीकाएँ लिखी हैं।

आचार्य मध्वाचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'अनुव्याख्यान' नामक एक और रचना लिखी, यह छोटी सी पद्य-बद्ध रचना है, जिसमें ब्रह्मसूत्र की मुख्य तार्किक स्थिति का अध्याय-क्रम से अनुसरण किया गया है। मध्वाचार्य 'प्राक्कथन' में कहते हैं कि यद्यपि 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे जा चुके हैं तथापि अपने मत को उचित रूप से स्पष्ट करने के हेतु से अनुव्याख्यान लिख रहे हैं।

मध्वाचार्य का कथन है- कि अपनी व्याख्या में उन्होंने वेदों के विश्वसनीय श्रुति-पाठों एवं तार्किक-युक्तियों का अनुसरण किया है।[1] मध्वाचार्य के अनुसार-ब्रह्मन् को निर्दिष्ट करने वाला 'ओमकार' जाय गायत्री का अभिप्राय है, वहीं सब वेदों का अभिप्राय है, हमें उसे ज्ञात करना चाहिए। जाय ब्रह्मन् को जानने का प्रयत्न करते हैं वे अपने इस प्रयास से ईश्वर को प्रसन्न कर लेते हैं, और उनके अनुग्रह से मुक्त हो जाते हैं।

अनुव्याख्यान पर जयतीर्थ ने अपनी 'पंजिका' व 'न्याय-सुधा' में टीका की है। 'न्यायसुधा' बहुत उत्तम, अति विद्वतापूर्ण रचना है। रघूत्तम ने अनुव्याख्यान पर अपने 'न्याय-सूत्र-प्रदीप', 'अनुव्याख्यान-टीका' में, टीका की है। श्रीपदराज ने 'न्यायसुधोपन्यास' नामक टीका लिखी।

---

1 आत्म-वाक्यतया तेन श्रुति-मूलतया तथा।
मुक्ति-मूलतया चैव प्रामाण्य त्रिविधं महत् ।। -अनुव्याख्यान, 1/1

मध्वाचार्य ने प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, मिथ्यात्वानुमान-खंडन, उपाधि-खंडन, मायावाद-खंडन, तत्वसंख्यान, तत्वोद्योत, तत्व-विवेक, विष्णु-तत्व-निर्णय, कर्म-निर्णय की भी रचना की।[1]

जयतीर्थ द्वारा 'न्याय-कल्प-लता' प्रमाण-लक्षण पर लिखी गयी टीका है। न्याय-कल्प-लता' पर भी 'न्याय-कल्प-लता-व्याख्या' नामक टीका विद्याधीशयति ने लिखी। चण्डकेशव द्वारा 'सन्नास-दीपिका' टीका लिखी।

मध्वाचार्य तर्क से सम्बन्धित अन्य रचनाए इस प्रकार हैं- राघवेन्द्र यति की 'न्याय-मुक्तावली', विजयीन्द्र की 'न्याय-भौक्तिका-माला' वादिराज की 'न्याय-रत्नावली'।

कथा-लक्षण में मध्वाचार्य विभिन्न प्रकार के 'सुसंवाद' (वाद) की व्याख्या करते हैं तथा 'कुसंवाद' (वितण्डा) से उसका अन्तर स्पष्ट करते हैं। 'वाद' एक ऐसा संवाद है जाय विभिन्न समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिए अर्थात् तर्क द्वारा सत्य की खोज के लिए गुरू और शिष्य के मध्य किया जाता है। जब यह संवाद अहंकार अथवा प्रतिस्पर्धा की भावना से विवाद में विजय प्राप्त करने के लिए अथवा प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता है, तब वह 'जल्प' कहलाता है। कुसंवाद अथवा वितंडा में सत्य मतों की अविश्वसनीयता सिद्ध करने के उद्देश्य से हल पूर्ण मुक्तियों का प्रयोग किया जाता है।

मध्वाचार्य की 'तत्व संख्यान' ग्यारह श्लोकों की एक लघु पुस्तिका है, जिसमें मध्वाचार्य ने कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है- आचार्य मध्वाचार्य के अनुसार दो तत्त्व है- स्वतंत्र, परतंत्र केवल विष्णु ही स्वतंत्र हैं। परतंत्र के दो प्रकार हैं- भाव, अभाव, अभाव अथवा निषेध के तीन प्रकार हैं- प्राग्भाव- उत्पन्न होने के पूर्व अभाव, विध्वंसाभाव-विध्वंस के द्वारा अभाव, अत्यन्ताभाव-सार्वभौम अभाव। भाव-तत्त्व के दो प्रकार- चेतन और जड़। चेतन सत्ताएं दो प्रकार की होती है- वे जाय दुःख के सम्पर्क में हैं, तथा वे जाय दुःख के सम्पर्क में नहीं हैं। जाय दुःखों के सम्पर्क में हैं वे पुनः दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् जाय मुक्त हैं तथा जाय दुःख में है। जाय दुःख में हैं वे पुनः दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् वे जाय मोक्ष के योग्य हैं, तथा जाय मोक्ष के योग्य नहीं है। कुछ सत्ताएं जैसे- निकृष्ट मनुष्य, दानव, राक्षस, पिशाच किसी भी काल में मोक्ष के योग्य नहीं होते हैं। इनके दो प्रकार होते हैं अर्थात् वे जाय

---

1 मध्वाचार्य की ये दस रचनाएँ 'दश-प्रकरण' कहलाती हैं।

'संसार' पथ पर चल रहे हैं किन्तु नर्क के भागी हैं। जड़ सत्ताएं पुनः तीन प्रकार की होती हैं -नित्य, अनित्य, अंशतः नित्य एवं अंशतः आनित्य केवल दो ही नित्य है- 'पुराणों' का पवित्र साहित्य काल और नित्य एवं अनित्य दोनों हैं, क्योंकि स्वरूप में 'पुराण' काल व 'प्रकृति' नित्य हैं, किन्तु विकास की अवस्था में वे अनित्य हैं। अनित्य सत्ताएं दो प्रकार की होती हैं- जिनकी सृष्टि हुई है (संश्लिष्ट) एवं जिसकी सृष्टि नहीं हुई है। (असंश्लिष्ट)। जगत् तथा जगत् की समस्त वस्तुएं संश्लिष्ट सत्ताएं हैं, असंश्लिष्ट सत्ताएं हैं- महत् , अहम् , बुद्धि, मनस् , इन्द्रियां, तन्मात्राएं पंचभूतियां। सृष्टि-रचना का अर्थ है क्रियाओं में प्रेरित होना, अतः संश्लिष्ट सत्ताएं कई अवस्थाओं में से निकलती हैं- ईश्वर की समस्त वस्तुओं और सर्व परिवर्तनों का आंतरिक संचालक है।

मध्वाचार्य की 'तत्त्व-विवेक' भी एक लघु रचना है, इस ग्रंथ में 'तत्व-संख्यान' के ही विषयों का न्यूनाधिक रूप से वर्णन किया गया है। अतः मध्वाचार्य की कृतियों की सूची में इसका भी नाम देना आवश्यक है।

'तत्वोद्योत' पद्य एवं गद्य में लिखी हुई रचना है। इस ग्रन्थ का आरम्भ इस बात से होता है कि मुक्त आत्माओं में भेद है अथवा नहीं? मध्वाचार्य के अनुसार-मुक्त आत्माएँ ईश्वर से भिन्न हैं, क्योंकि वे एक काल विशेष में मुक्त हुई थी। मुक्त आत्माएँ और ईश्वर में भेद-अभेद का प्रश्न हीं नहीं उठता है।

अद्वैतवादियों का मत लक्षणों एवं गुणों से सम्पन्न सगुण ईश्वर की धारणा से सर्वथा भिन्न है। इनके अनुसार ब्रह्मन् निरपेक्ष, भेद रहित है, मध्वाचार्य कहते हैं- वे अपने मत के पक्ष में कोई युक्ति नहीं दे सकते, क्योंकि समस्त युक्तिओं में सापेक्षता एवं भेद का पूर्ण ग्रहण होता है। किसी सम्यक् युक्ति के अभाव तथा जगत् की सत्यता के व्यावहारिक अनुभव के समक्ष, वस्तुतः अद्वैतवादी मत को स्थापित करने का कोई साधन नहीं है। इसलिए अब समय आ गया है कि 'मायासिद्धान्त' के समर्थक भाग खड़े हों, क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर हलपूर्ण युक्तिओं व श्रुति पाठों की असत्य व्याख्या रूपी अंधकार को विदीर्ण करने के लिए आ रहा है।[1]

मध्वाचार्य "कर्म-निर्णय" में पूर्व-मीमांसा का विषय कर्म अथवा शास्त्रीय-कर्त्तव्यों के स्वरूप का विवेचन करते हैं। मध्वाचार्य सगुण ईश्वर के

---

1 पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायि दानवः।
सर्वज्ञो हरिर्आयाति तर्कागम-दरारिभिद् ।। तत्वोद्योत, पृ. 245 (अ)।

समर्थक है परन्तु 'पूर्व-मीमांसा' ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। अतः आचार्य मध्वाचार्य मीमांसा की प्रामाणिक ढंग से व्याख्या करते हैं, उनके अनुसार-इन्द्र, अग्नि आदि विभिन्न देवता विष्णु का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्व-मीमांसा समस्त यज्ञानुष्ठानों का उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति मानता हैं परन्तु मध्वाचार्य का चरम उद्देश्य सम्यक् ज्ञान तथा ईश्वर के अनुग्रह द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है। मध्वाचार्य यज्ञों का निष्काम सम्पादन 'ईश्वरीय आदेश' होने के कारण करते हैं क्योंकि यह ईश्वरानुग्रह की प्राप्ति का प्रारम्भिक चरण है तथा उसका उपसाधन है।

मध्वाचार्य के अनुसार जहाँ श्रुति-पाठ ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं वहाँ निर्गुण से तात्पर्य यह है कि ब्रह्म दुर्गुणों से रहित है। ब्रह्म सर्व-विशेषों से रहित नहीं हो सकता, 'विशेष' का निषेध करना स्वयं एक 'विशेष' है, अतः यदि अद्वैतवादी उसका निषेध करते हैं तो वह अनिवार्यता 'विशेष' को स्वीकार कर लेते हैं।

'विष्णु-तत्व-निर्णय' मध्वाचार्य की 600 ग्रन्थों की रचना है, इस ग्रन्थ में अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का वर्णन किया है। आचार्य मध्वाचार्य के अनुसार वेद, महाभारत, पंचरात्र, रामायण, विष्णु पुराण तथा उनका अनुकरण करने वाले सर्व धर्म-साहित्य प्रामाणिक शास्त्र माने जाने चाहिए। अन्य सभी मूल पाठ जाय उनके विरोधी हैं अप्रामाणिक शास्त्र माने जाने चाहिए। अप्रामाणिक शास्त्र का अनुसरण करके ईश्वर के सत्य स्वरूप को ज्ञात नहीं किया जा सकता है। मध्वाचार्य कहते हैं- ईश्वर को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा नहीं जाना जा सकता है, केवल वेदों की सहायता से ही ईश्वर के स्वरूप को जाना जा सकता है।

मध्वाचार्य वेदों को अपौरूषेय मानते हैं, अर्थात् वेदों के अलौकिक उद्‌गम को स्वीकार करते हैं। अलौकिक उद्‌गम को स्वीकार किये विना धार्मिक कर्त्तव्यों की निरपेक्ष प्रामाणिकता स्थापित नहीं की जा सकती है। वेदों का 'अपौरूषेय' उद्‌गम स्वयं सिद्ध है क्योंकि हम किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानते जिसने उन्हें लिखा हो।

मध्वाचार्य के विष्णु-तत्त्व-निर्णय पर जयतीर्थ द्वारा ''विष्णु तत्व-निर्णय टीका'', केशव स्वामिन् द्वारा ''विष्णु-तत्व-निर्णय-टीका-टिप्पणी'' श्रीनिवास एवं पद्मनाभतीर्थ द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टिप्पणी' रघूत्तम द्वारा ''भक्त-बोध'' नामक

टीकाएँ लिखी गयी। इनके अतिरिक्त ''विष्णु-तत्व-निर्णय'' की अनुगामी रचनाएँ विष्णु-तत्व-निर्णय व्याख्यार्थ और वनमाली मिश्र की ''विष्णु-तत्व-प्रहास'' है।

''न्याय-विवरण'' मध्वाचार्य की छः सौ से अधिक ग्रन्थों की रचना है, इसमें 'ब्रह्म-सूत्र' के विभिन्न अध्यायों के तार्किक-सम्बन्ध का विवरण दिया गया है। मध्वाचार्य ने 'अणुभाष्य' व 'अनुव्याख्यान' को समाप्त करने के पश्चात् 'न्याय-विवरण' की रचना की थी। ब्रह्मसूत्र इस मान्यता से प्रारम्भ होता है कि ब्रह्म के सर्वगुण सम्पन्न परम पुरूष होने के कारण सीमित मनस् उसका अवधारण कठिनाई से कर सकता है, फिर परम पुरूष की महानता के विस्तार के सम्बन्ध में स्वाभाविक जिज्ञासा व्यक्त की गयी है। तथा द्वितीय सूत्र में यह बताया गया है कि ब्रह्म जीवों से एक रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह जगत् की उत्पत्ति का उद्गम् स्थान है, तथा वही जगत् का पालनकर्ता भी है। ''तृतीय सूत्र'' में कहा गया है कि जगत् का ब्रह्म-कारणत्व श्रुतियों के माध्यम के अतिरिक्त नहीं माना जा सकता, ''चतुर्थ सूत्र'' से ज्ञात होता है कि जिन श्रुतियों द्वारा हम ब्रह्म को जान सकते हैं वे उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकती।

मध्वाचार्य कहते है जाय अद्वैतवादियों का मत है, कि ज्ञान का उदय होने पर सर्व 'कर्मों' का नाश हो जाता है और मोक्ष स्वतः प्राप्त हो जाता है, यह स्वीकार्य नहीं है क्योंकि ज्ञान तो केवल 'अप्रारब्ध कर्मो' को मिटा सकता है। 'प्रारब्ध' कर्मों का फल तो उनकी समाप्ति होने तक भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार आचार्य मध्वाचार्य 'जीवन्मुक्ति' स्वीकार करते हैं। यद्यपि सम्यक् ज्ञान का उदय 'अप्रारब्ध' कर्मों को मिटा देता है, तथापि कर्त्ता परमेश्वर ही है। जब मनुष्य में सम्यक् ज्ञान उदित होता है तब परमेश्वर प्रसन्न हो जाता है और 'अप्रारब्ध कर्मो' का नाश कर देता है।[1] मध्वाचार्य के 'न्याय-विवरण' पर विट्ठल-सुतान-न्दतीर्थ, मुद्गलतीर्थ और रघूत्तम द्वारा अनेक टीकाएँ लिखी गयी। जयतीर्थ ने इस पर ''न्याय-विवरण-पंजिका'' लिखी। 'न्याय-विवरण' की दिशा में राघवेन्द्र, विजयीन्द्र, वादिराज ने क्रमशः न्याय मुक्तावली, न्याय-भौक्तिकमाला न्याय मुक्तावली लिखी।

---

1 कर्माणि क्षपमैद् विष्णुरप्रारब्धानि विद्यया।
प्रारब्धानि तु भोगेन क्षपयन् स्वयं पदं नयेत।। -'न्याय विवरण' पृष्ठ 16

''तन्त्र-सार-संग्रह'' मध्वाचार्य की कर्म काण्ड पर आधारित चार अध्यायों की एक रचना है, जिसमें 'मन्त्रों' के प्रयोग से विष्णु की उपासना-विधि बतायी गयी है तथा कर्मकाण्डीय उपासना के विभिन्न उपक्रम दिये गये हैं। जयतीर्थ ने ''तन्त्र-सारोक्त-पूजाविधि'' नामक लघु रचना पद्य में लिखी, उस पद्धति से श्रीनिवासाचार्य ने ''तन्त्र-सार-मन्त्रोद्धार'' नामक एक छोटी कृति लिखी। इस पर चलारि नृसिंहाचार्य, चलारि शेषाचार्य, रघुनाथपति, श्रीनिवासाचार्य द्वारा टिकाएँ लिखी गयी हैं।

''सदाचार-स्मृति भी आचार्य मध्व की एक लघु रचना है जाय चालीस श्लोकों में है, यह रचना भी कर्मकाण्ड पर आधारित है। इसमें एक अच्छे 'वैष्णव' के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। ''सदाचार-स्मृति'' पर द्रोणाचार्य ने ''सदाचार-स्मृति-व्याख्या'' नामक टीका लिखी।

मध्वाचार्य ने ''कृष्णामृत-महार्णव'' नामक दो सौ बयालीस श्लोकों की एक छोटी कृति लिखी है। इसमें विष्णु की उपासना विधियों का वर्णन किया गया है तथा पापों के निवारण के लिए पश्चात्ताप एवं ईश्वर नाम के ध्यान के साधनों का उल्लेख किया गया है। आचार्य मध्वाचार्य कहते है- वर्तमान कलि-काल में ईश्वर की 'भक्ति' ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। इसका वर्णन 'कृष्णामृत-महार्णव' ग्रन्थ में इस प्रकार करते हैं कि ईश्वर का ध्यान ही सर्व पापों का नाश कर सकता है।[1] ईश्वर का ध्यान करने वालों के लिए कोई शौच एवं किसी संन्यास की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् केवल ईश्वर नाम ही पापों को दूर करने का एकमात्र साधन है।

''द्वादशस्तोत्र'' मध्वाचार्य की एक सौ तीस श्लोकों की एक लघु रचना है। इस पर कोई टीका उपलब्ध नहीं हुई है।

''नरसिंह-नख-स्तोत्र'' दो श्लोकों की आचार्य मध्व की एक अति लघु रचना है।

''यमक-भारत'' इक्यासी श्लोकों की मध्वाचार्य की कृति है। इसमें कृष्ण की कथा का वर्णन दिया गया है, जिसमें वृन्दावन की घटनाओं तथा पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर की घटनाओं का समावेश किया गया है। ''यमक-भारत'' पर यदुपति एवं तिम्मण्ण भट्ट ने टीकाएॅ लिखी हैं।

---

1 स्मरणादेव कृष्णस्य पापसंघट्ट पंजरः।
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्राहतो यथा।। -'कृष्णामृत-महार्णव', श्लोक 46

मध्वाचार्य ने 'ऋग्वेद' की कुछ चुनी हुई ऋचाओं की टीका के रूप में ''ऋग्वेद-भाष्य'' लिखा, इस पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, वेंकट, चलारिनृसिंहाचार्य, राघवेन्द्र, केशवाचार्य, लक्ष्मीनारायण व सत्यनाथ यति ने टीकाएँ लिखीं। राघवेन्द्र यति ने भी इसी पद्धति पर ''ऋगर्थ मंजरी'' नामक रचना लिखी।

''ईशोपनिषद्'' पर मध्वाचार्य द्वारा लिखे गये भाष्य पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, रघुनाथपति, नृसिंहाचार्य, सत्यप्रज्ञयति ने टीकाएँ लिखी।

''ऐतरेमोपनिषद्'' पर मध्वाचार्य द्वारा लिखे गये भाष्य पर ताम्रपाणी श्रीनिवास, जयतीर्थ, विश्वेश्वरतीर्थ व नारायणतीर्थ ने टीकाएँ लिखी और नरसिंहयति ने ''ऐतरेयोपनिषद्-खण्डार्थ'' नामक पृथक ग्रंथ लिखा जिस पर श्रीनिवासतीर्थ ने ''खण्डार्थ-प्रकाश'' टीका लिखी।

आचार्य मध्व के ''कठोपनिषद्-भाष्य'' पर वेदेश ने टीका लिखी।

मध्वाचार्य के ''केनोपनिषद्-भाष्य'' पर व्यासतीर्थ ने ''केनोपनिषद् - भाष्य-टीका'' लिखी, जबकि राघवेन्द्रतीर्थ ने एक पृथक् रचना ''केनोपनिषद् - खण्डार्थ'' लिखी।

''छान्दोग्योपनिषद-भाष्य'' भी मध्वाचार्य द्वारा लिखी गयी रचना हैं। जिस पर व्यासतीर्थ ने टीका लिखी, वेदेश और राघवेन्द्रतीर्थ ने ''छन्दोग्योपनिषद् -खण्डार्थ'' नामक एक पृथक् ग्रन्थ लिखा।

मध्वाचार्य के ''तलवकार-भाष्य'' पर व्यासतीर्थ द्वारा ''तलवकार-भाष्य-टीका,'' वेदेश भिक्षु द्वारा ''तलवार-टिप्पणी'', नृसिंहभिक्षु ने ''तलवकार-खण्डार्थ-प्रकाशिका'' लिखी।

आचार्य मध्वाचार्य के ''प्रश्नोपनिषद्-भाष्य'' पर जयतीर्थ द्वारा ''प्रश्नोपनिषद् -भाष्य-टीका'' लिखी गयी जिस पर श्रीनिवासतीर्थ ने ''प्रश्नोपनिषद्-भाष्य-टीका-टिप्पणी'' नामक दो टीकाएँ कीं।

मध्वाचार्य के 'बृद्धारण्यक भाष्य'' पर रघूत्तम, व्यासतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ द्वारा ''बृहदाख्यक-भाष्य-टीका'' लिखी गयी, रघूत्तम यति ने ''बृहदारण्यक-भाव-बोध'' नामक पृथक् रचना लिखी।

मध्वाचार्य के ''माण्डूक्योपनिषद् - भाष्य'' पर व्यासतीर्थ व कृष्णाचार्य द्वारा दो टीकाएँ लिखी गयी। राघवेन्द्रयति ने ''माण्डूक्य-खण्डार्थ'' नामक पृथक रचना लिखी।

आचार्य मध्वाचार्य के ''मुण्डकोपनिषद् -भाष्य'' पर व्यासतीर्थ और नारायणतीर्थ द्वारा 'मुण्डकोपनिषद् -भाष्य-टीका-टिप्पणी'' और नृसिंहभिक्षु द्वारा ''मुण्डकोपनिषद् -भाष्य-व्याख्या'' लिखी गयी।

इस प्रकार श्रीमन्मध्वाचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के वर्णन के पश्चात् दृष्टिगोचर होता है कि जब मध्वाचार्य अपने विशिष्ट शिष्यों की सभा में विराजमान होकर, 'ऐतरेय' उपनिषद की व्याख्या करते थे, तब इन्द्र आदि देवगण, उपदेवों के सहित, आकाश में स्थित होकर, श्रीमध्वाचार्य का विजय-महोत्सव मनाते हुए, उनके द्वारा रचे हुए ग्रन्थों की प्रशंसा करते हुए कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा करते हुए, आचार्यवर्य का पूजन करते रहते थे और प्रार्थना करते हुए, इस प्रकार कहते थे कि हे गुरूदेव! आपने स्वरचित सिद्धान्तमय-ग्रन्थरूप-सूर्यों की किरणों के द्वारा, असत् सिद्धान्तपूर्ण-ग्रन्थारूप अन्धकार को विनष्ट कर दिया है, और जीवमात्र को मुक्ति देने वाले भगवान् के दिव्य-गुणगणों का यथार्थ प्रतिपादन कर दिया है, और अपने सद्गुणों के द्वारा, आपने चौदह भुवनों पर विजय पा लिया है, अतः कृपा करके हमारे भी रक्षक हो जाइये। हे प्राणेश्वर! अर्थात् हे समस्त इन्द्रियों के नियामक मुख्यप्राण! आपका अवतार, नम्रता परायण सज्जनों को तत्वज्ञान कराने के लिए ही हुआ है। हे स्वामिन् ! हनूमन् ! हे रामप्रियतम! आपके गुण महान् गौरवशाली है और हे अतिशय बलशालिन् भीम! भगवन् । आप तो, श्रीकृष्ण को भी प्यारे लगते हो, और हे श्रीमन्मध्वाचार्य! आपके श्रीचरणों में हमारा कोटिशः प्रमाण स्वीकार हो। हमारे लिए भी कृपया, वास्तविक तत्वज्ञान का दान कर दीजिए। हे प्रभो! आपकी सदैव जय-जयकार हो।''

तृतीय अध्याय
पदार्थ मीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा

प्रस्तुत अध्याय दो भागों में विभक्त है - पदार्थमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा। आचार्य मध्व ने दस पदार्थ स्वीकार किया है -

पदार्थ मीमांसा - 1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कर्म, 4. सामान्य, 5. विशेष, 6. विशिष्ट, 7. अंशि, 8. शक्ति, 9. सादृश्य, 10. अभाव।

इसी अध्याय में पाँच प्रकार के भेद का भी वर्णन किया गया है - 1. ईश्वर का जीव से भेद 2. ईश्वर का जड़ से भेद 3. जीव का जीव से भेद 4. जीव का जड पदार्थ से भेद 5. जड पदार्थ का जड पदार्थ से भेद। मध्वाचार्य ने किस प्रकार स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार किया है, इसकी भी व्याख्या की गयी हैं। मध्व द्वारा स्वीकृत ''अन्यथाख्यातिवाद'' का भी वर्णन किया गया है।

ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द का वर्णन किया गया है। जगत्, जीव आदि सभी तत्वों में एक ऐसे तत्व का आकलन अनिवार्य है, जो इन सबका आधार हो, स्वतंत्र हो, तथा अन्य सभी जिसके अधीन हो। इस 'तत्व' का निर्धारण इसलिए भी आवश्यक है कि इसके न मानने पर 'जगत्' में प्राप्त व्यवस्था का समाधान क्या होगा? मध्व ने इस 'तत्व' को दृढता से प्रतिपादित किया है।[1]

मध्व की परिभाषा **'तत्त्वम् अनारोपतिम्'**[2] से प्रश्न उठा कि क्या सत्ता तत्व है अथवा सत्ता का ज्ञान तत्व है? अथवा काल और आकाश में स्थित रहना तत्व है? जो है वह सभी वास्तव हो यह सम्भव नहीं है। यही ग्रहण किया गया तो फिर भ्रम की स्थिति ही नहीं रहेगी। इस अनादि संस्कार में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण से प्राप्त होने वाले भ्रमों में भ्रान्ति और

---

1 जयतीर्थ- 'नहि बाधः अपितु कालत्रयसत्तानिषेधः।
नयेकस्मिन्काले सतः स सम्भवति।' वि. तत्वविनि. टीका, पृ. 95

2 मध्व तत्त्वसंख्यान, पृ. 1

वास्तविकता दोनों ही प्राप्त होते हैं।[1] सत्ता किसी विशेषकाल एवं देश से सम्बन्धित स्थिति पर आधारित हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि सत्ता के लिए सर्व देशकाल सम्बन्धित हो। सत्ता का सर्वोत्तम रूप स्वातंत्रय है। यह क्रिया एवं चैतन्य दोनों आधारों पर होना चाहिए। इसी तथ्य की सर्वोत्कृष्टता को व्यक्त करने के लिए पराधीन तत्त्व को असत् भी कह दिया जाता है।[2] स्वतंत्र 'तत्त्व' की मान्यता अन्य दार्शनिक मतों ने भी स्वीकार की हैं, किन्तु ईश्वर को स्वतंत्र तत्त्व का स्थानापन्न अन्य मतों ने ग्रहण नहीं किया।

ईश्वर 'स्वतन्त्रत्व' 'सर्वदोषविनिर्मुक्तत्व' भास्कर, यादव प्रकाश एवं निम्बार्क आदि आचार्यों के द्वारा भी स्वीकृत है। ब्रह्म के परिणामी रूप एवं प्रक्रिया में उनमें अन्तर अवश्य है, किन्तु ब्रह्म की 'स्वतंत्र' स्थिति उनको मान्य है। ईश्वर पूर्ण है। 'तत्त्व' परिगणन के पूर्व स्पष्ट रूप से उनका स्वरूप विषयक-बोध रहना चाहिए। उसी रूप में उनको जानना श्रेयस्कर है।[3]

'तत्त्व की परिभाषा का विभिन्न शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख किया है-

माध्यमिककारिका के अनुसार-निर्विकल्प, प्रपंचों से अप्रपंचित, अनेकार्थरहित एवं शान्त यह, अर्थों के निमित्त, तत्त्व का लभ्रम एवं लौकिक दृष्टि से जानने के उपरान्त भी, वह वहीं नहीं रहता जो जाना गया है, उससे भिन्न भी नहीं रहता, न उच्छिन्न है, न शाश्वत, उसी को तत्त्व कहते हैं।[4]

न्याय भाष्यकार ने तत्त्व का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया कि, सत् का सत् मात्र होना एवं असत् का असत् मात्र होना ही तत्त्व है। अर्थात् जो जैसा है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना तत्त्व है।[5]

---

1 जयतीर्थ भनादौ च संसारे, इन्द्रियलिंग शब्द जन्येषु ज्ञानेषु द्वयीं गमिनुसन्दधत्। न्यायसुधा, पृ. 218

2 मध्व - वस्तु स्वतन्त्रमुद्दिष्टमस्वतन्त्रमवस्तु च।
स्वाधीनं सदिति प्रोक्तं पराधीनमसत् स्मृतम्। भा.ता.,पृ. 108

3 जयतीर्थ- परतन्त्रप्रमेयं हि स्वतन्त्रायत्ततया विदितं
निःश्रेयसाम भवति। अन्यथा गंगाबालुकापरिगणन-
वदिदं तत्व- संख्यानमपार्थकं स्यात्। तत्त्वसंख्यान- टीका, पृ. 5

4 माध्यमिककारिका 18.9-10

5 न्यायभाष्य 1/1/1

न्यायवार्तिक में कहा गया है- अर्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसमें ही अवस्थित रहकर जो तथा भूत-प्रत्यय का निमित्त बनता है, वह तत्त्व है।[1]

शंकर के अनुसार - द्रव्य का अविकृत होना ही तत्त्व है, क्यों कि उसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती। विकार तत्त्व नहीं होता क्यों कि उसके लिए अपरसहयोग अपेक्षित है।[2] जो अर्थ जिस रूप में स्थित है, उसका वैसा होना तत्त्व है।[3]

अमरकोशकार ने 'तत्त्व' को 'ब्रह्म' और 'यथार्थ' का पर्याय माना है। (तत्त्वं ब्रह्मणि यथार्थ्ये)। जयतीर्थ ने, स्वरूप, प्रमिति एवं प्रवृत्ति तीनों प्रकार की सत्ता से अर्थ का युक्त होना, तत्त्व माना है।[4]

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'तत्त्व' की परिभाषा में विचारकों में यत्किंचित् अन्तर अवश्य है। यह अन्तर उनकी दार्शनिक मान्यता के स्थापन के परिणाम स्वरूप है। फिर भी 'यथार्थता' के पर्याय के रूप में सामान्य रूप से, सभी चिन्तकों ने तत्त्व पद के अर्थ का ग्रहण किया है।

'तत्त्व' न तो बौद्धों के अनुसार केवल क्षणिक है, और न अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार शाश्वतिक रूप से नित्य तथा देशतः एवं कालतः अव्याहत हो।[5] कोई वस्तु कालतः देशतः सीमित होने पर भी तत्वतः हो सकती है। तत्त्व होने के लिए त्रिकालगत निषेध का अभाव होना चाहिए। किसी वस्तु का विनाश उसकी सत्ता का बाध नहीं है, अपितु त्रैकालिक दृष्टि से किसी वस्तु की सत्ता के निषेध को बाध कहा जा सकता है। यदि किसी एक काल में ही किसी वस्तु की सत्ता प्राप्त है, तो फिर उसे असत्व कैसे कहा जा सकता है।[6]

---

1 न्यायवार्तिक 1.1.1

2 शंकर 'दृव्यस्य हि तत्त्वमविक्रिया, परानपेक्षत्वात् विक्रिया न तत्त्वं परापेक्षत्वात्। तैत्ति उप0 म0, पृ. 381

3 योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.2.5

4 जयतीर्थ- 'स्वरूपप्रमितिप्रवृत्तिलक्षणा सत्ता त्रैविध्यम्।'
-तत्त्वसंख्यानटीका, पृ.1

5 जयतीर्थ- न हि सत्ता सकलदेशकालसत्ता भवितव्यमिति नियामकमस्ति। न्यायसुधा, पृ. 217

6 जयतीर्थ - नहि विनाशो वाधः अपितु कालत्रयसत्तानिषेध निषेथ।
न येकस्मिन्काले सतः स सम्भवति। - वि. तत्त्वविनि. टीका, पृ. 95

अद्वैत एवं बौद्ध दोनों एकान्त मतों की अपेक्षा मध्व ने न्याय-सहकृत इसी धारणा को स्वीकार किया है। कि यदि वस्तु किसी देशकाल से सम्बन्धित है, तो उसे सत्व मान लेना चाहिए, पूर्वापरवर्त्ती काल में एवं अन्यत्र उसकी स्थिति न हो तो कोई बात नहीं होती है। शंकर के द्वारा ग्रहीत व्यावहारिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता तथा पारमार्थिक सत्ता आदि संज्ञागत भेद व्यर्थ है। सत्ता सदैव पारमार्थिक होगी, वस्तु या तो होगी ही नहीं अथवा होगी। यह सम्भव नहीं है, कि कोई तत्त्व व्यवहारतः सत् हो, किन्तु परमार्थतः असत् हो। इस प्रकार मध्व मिथ्यात्त्व को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं।

आचार्य मध्व ने तत्त्वों को दस पदार्थों के वर्गों में वर्गीकृत किया है -

1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कर्म, 4. सामान्य, 5. विशेष, 6. विशिष्ट, 7. अंशि, 8. शंक्ति, 9. सादृश्य एवं, 10. अभाव

न्याय-वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय, अभाव सात पदार्थ स्वीकार किया गया है जब कि मध्व मत में समवाय को न लेकर अन्य चार वर्गों के समायोजन से पदार्थों की संख्या दस स्वीकार की गयी है।

द्रव्य - मध्वाचार्य द्रव्य के दो व्यावर्तक-धर्म मानते हैं, एक तो द्रव्य का उपादानकारण के रूप में होना, दूसरा परिणाम एवं अभिव्यक्ति का होना।[1] यह दो धर्म जिस तत्त्व में हो उसे द्रत्य कहा जाना चाहिए। द्रव्य में उपादानत्व अवश्य होना चाहिए। जैसा कि प्रकृति में है। द्रव्य की अभिव्यक्ति होना भी आवश्यक है, उदाहरणतः ईश्वर एवं जीव। इन दो रूपों में (परिणाम एवं अभिव्यक्ति) जिसका परिवर्तन हो वह द्रव्य है।

इस प्रकार द्रव्य की परिभाषा के पश्चात् निष्कर्ष यह निकलता है कि जगत् तो परिणाम के अधीन है, जब कि ईश्वर अथवा जीवों की केवल अभिव्यक्ति हो सकती है अथवा वे ज्ञात किये जा सकते हैं, किन्तु उनका कोई परिणामी परिवर्तन नहीं हो सकता, फिर अविद्या के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसके परिणामी परिवर्तन भी होते हैं और वह अभिव्यक्ति का विषय भी बनती है।

---

1 पद्मनाभ- 'उपादानत्वं च परिणामोऽभिव्यक्तिश्चेद्विविधम्।' पदार्थ संग्रहः द्रव्यप्रकरणम्, पृ. 58

मध्व मत में अभिव्यक्ति के आश्रय को भी उपादान के अन्तर्गत ही ग्रहण किया गया है, अतः उपादानत्व जिस तत्त्व में हो, वह द्रव्य है।

न्याय- वैशेषिक की परिभाषा गुण और क्रिया का आश्रय द्रव्य है यह सर्वतोग्रहीत है।

पदार्थ संग्रह के अनुसार द्रव्य 20 बीस प्रकार के हैं- **1. ईश्वर, 2. लक्ष्मी, 3. जीव, 4. अव्याकृताकाश, 5. प्रकृति, 6. गुणत्रय, 7. महत् , 8. अहंकार, 9. बुद्धि, 10. मन, 11. इन्द्रिय, 12. तन्मात्राएं, 13. भूत, 14. ब्रह्माण्ड, 15. अविद्या, 16. वर्ण, 17. तम, 18. वासना, 19. काल, 20. प्रतिबिम्ब।**

1. ईश्वर- मध्वाचार्य के ग्रन्थ 'तत्त्व-संख्यान' में दो प्रकार के तत्त्व स्वतंत्र एवं अस्वतंत्र का' वर्णन किया गया है। 'स्वतंत्र' तत्त्व भगवान् विष्णु तथा अन्य सभी परतंत्र है।[1] वह सभी प्रकार के दोषों से रहित है। सभी प्रकार के अनन्त गुणों से परिपूर्ण हैं। अन्य सभी द्रव्यों के गुण सीमित हैं, किन्तु ईश्वर के असीमित गुण हैं। वह सर्वव्यापी हैं, जीव एवं जड़ से भिन्न है।[2] वह जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय का कारण है। ज्ञान, अज्ञान, बन्ध एवं मोक्षादि उसी के अधीन है। वह पूर्ण नित्य तथा ज्ञान एवं आनन्द से आपूरित है। ईश्वर आनन्द एवं ज्ञान की नित्य एवं अविनाशी आकृति से युक्त है।

2. लक्ष्मी - आचार्य मध्व ने अपने द्वैत-सिद्धान्त में लक्ष्मी के स्वरूप की सिद्धि के लिए कोई विशेष यत्न नहीं किया है, केवल श्रुति के आधार पर उसकी मान्यता को ग्रहण कर लिया है। मध्व लक्ष्मी के विषय में इतना ही कहते हैं कि यह तत्त्व ईश्वर के अधीन है, अन्य सभी तत्त्वों से स्वतंत्र एवं ईश्वर से नित्य रूप से सम्बद्ध है। ईश्वर इसी के माध्यम से जगत् को उत्पन्न, स्थित एवं विलीन करते हैं।

3. जीव - मध्वाचार्य ने सभी जीवों को यहाँ तक कि ब्रह्मा को भी, पॉच भौतिक आकार से युक्त स्वीकार किया है। आकार एवं मानसिक विशेषताओं, अज्ञान, वासनादि के कारण वह दुःख पूर्ण संसार में आबद्ध है।

---

1 मध्व- 'स्वतंत्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्वमिष्यते। स्वतन्त्रों भगवान्विष्णुः।' तत्त्व सं0, पृ. 1

2 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह, पृ. 70-74

द्वैत सम्प्रदाय में जीवा के के तीन प्रकार है[1]- मुक्ति योग्य, नित्य संसारी एवं तमोयोग्य। प्रथम वर्ग में देव, ऋषि तथा अन्य वे सभी जीव हैं, जो जागतिक सुख-दुःख से परे हैं। दूसरे वर्ग के जीव संसार से आवद्ध हैं। तीसरे वर्ग के जीवों में राक्षस, पिशाचादि का ग्रहण है। तमोगुण के कारण वे अपनी स्थिति से ऊपर नहीं उठ सकते।

4. अव्याकृत आकाश - मध्व कहते हैं यदि आकाश न माना जाए तो विश्व की सम्पूर्ण वस्तुएं सम्बन्धाभाव की स्थिति में रहेंगी। किसके उत्तर में दक्षिम में कौन है यह बोध ही नहीं रहेगा।[2] अपरिवर्तनशील होने के कारण ही इसे अव्याकृत कहा गया है। साक्षि के द्वारा हुए भान के आधार पर ही उसकी सत्ता हैं 'मध्वसिद्धान्तसार' में इसे दिव्य रूप वाला कहा गया है।[3]

5. प्रकृति- साक्षात् अथवा परम्परा से जो तत्त्व सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है वह प्रकृति है।[4] प्रकृति के सांख्य सम्मत एवं मध्व-स्वीकृत रूप में अन्तर है। सांख्य में तीनों गुण, तीन धागे के समान, परस्पर मिलकर प्रकृति-रूप होते हैं किन्तु मध्व-मत में तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। तीनों गुण उसके अवयव न होकर कार्य हैं, प्रकृति इनका उपादान कारण है। मध्वाचार्य कहते हैं जगत् के उपादान होने के कारण ही उसे जड़ कहा गया है। यह नित्य एवं सर्व-व्यापी है। नित्य इस अर्थ में है कि परिणामों के उपरान्त भी वह कभी नष्ट नहीं होती। जैसे मिट्टी के सारे पात्रों में मिट्टी ही व्याप्त है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों में प्रकृति की व्यापकता है। अतः यह परिणामी तत्त्व है।[5]

6. गुणत्रय - आचार्य मध्व अपने ग्रन्थ 'मध्वसिद्धान्तसार' में कहते है। कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि के लिए सत्, रज एवं तम इन तीन गुणों के समुच्चय गुणत्रय को प्रकृति से उत्पन्न किया। यही महत्, अहंकार, तथा जगत् आदि के उपादानत्वेन स्थित है। सर्वप्रथम शुद्ध सत्व-गुण को प्रकृति ने उत्पन्न किया। इसके पश्चात् रज एवं तम् उत्पन्न हुए। सत्व एवं तमोगुण के सम्मिलन से

---

1 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह, पृ. 79

2 पद्मनाभ- पदार्थसारसंग्रह, पृ. 94

3 अत्र दिग्रूपत्वमव्याकृताकाशस्य लक्षणम्। - मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 80

4 पद्मनाभ- साक्षात्परम्परया वा विश्वोपादानम् प्रकृतिः। - पृ. 93

5 मध्वसिद्धान्तसार-प्रकृति अध्याय

रजोगुण की निर्मिति हुई। सृष्टि में यह तीनों गुण प्रकृति से निसृति होते हैं, प्रलय में इसी में विलीन हो जाते हैं।[1]

7. महत् - मध्व ने महत् का उपादान कारण त्रिगुण को माना है।[2] सतोगुण के दस भाग रज, एवं तमोगुण के एक-एक भाग मिलकर महत् की सृष्टि करते हैं। प्रलयावस्था में इसी अनुपात में महत् तीनों गुणों में विलीन हो जाता है।

8. अहंकार - 'पदार्थसंग्रह' में लिखा है कि महत् के तम भाग से अहंकार की सृष्टि होती है। इसमें सत, रज एवं तमोगुण का अनुपात 10:1:1010 है। अहंकार के तीन प्रकार है- वैकारिक, तैजस एवं तामस।

9. बुद्धि- मध्व ने द्वैतवाद में बुद्धि के दो प्रकार स्वीकार किया है। एक द्रव्य के रूप में दूसरी गुण के रूप में, बुद्धि का गुण रूप 'ज्ञान' है। महत् से उद्भूत होने वाली बुद्धि द्रव्यरूप है। यह भी महत् से प्रादुर्भूत माना जाता है।

10. मनस् - मध्वाचार्य पदार्थ-संग्रह में बुद्धि के समान मन को भी द्रव्य एवं इन्द्रिय रूप विविध मानते है।[3] द्रव्यरूप मन वैकारिक अहंकार से उत्पन्न है। इससे भिन्न मन एक इन्द्रिय के समान है। यह नित्य और अनित्य दोनों स्थिति से युक्त है, इसका नित्यरूप साक्षि होना है,[4] यही जीव का वास्तविक रूप है, अनित्य रूप जीव के स्वरूप का बाह्य रूप है। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है।[5] इस प्रकार ज्ञात होता है कि मध्व का अहंकार, बुद्धि एवं मन (द्रव्यरूप) का स्वरूप अन्य मतों से भिन्न है। यह प्रकृति की सृष्टि की विकसित स्थितियाँ है।

11. इन्द्रिय- मध्वाचार्य 'मध्वसिद्धान्तसार' में अपने-अपने विषय के प्रतिवाहित होने की शक्ति से सम्पन्न द्रव्य को इन्द्रिय कहते हैं।[6] द्रव्य का त्रिविध वर्गीकरण निम्न है- द्रव्य-अद्रव्य रूप, इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय, नित्य तथा अनित्य। कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय द्रव्य रूप हैं तथा अन्त्यि है वे तैजस

---

1 मध्वसिद्धान्तसार- त्रिगुणाध्याय
2 पदार्थसंग्रह, पृ. 105
3 पदार्थसंग्रह- पृ. 115
4 पदार्थसंग्रह- पृ. 118
5 पदार्थसंग्रह- पृ. 119
6 ''स्वस्वविषयद्रवणशक्तिमत्वम् इन्द्रिय लक्षणम्।'' मध्वसिद्धान्तसार, इन्द्रिय प्रकरणम्।

अहंकार से उत्पन्न है। जीव का स्वरूपभूत साक्षि ही नित्य इन्द्रिय है। यह भी द्रव्य-रूप है। इसके अतिरिक्त ईश्वर, लक्ष्मी तथा मुक्तात्माओं की इन्द्रियाँ नित्य हैं।

12. तन्मात्राएं- तामस अहंकार से उत्पन्न तन्मात्राएं द्रव्यरूप है। गुणरूप मात्राएँ आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध है। जो इन्द्रिय का विषय हो, उसे मात्रा कहते हैं। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध के रूप में पाँच प्रकार की है।

13. भूत- आकाश, वायु, तेज, आप् एवं पृथ्वी ये भूँत के पाँच प्रकार हैं। यह भी तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं।

14. ब्रह्माण्ड- सभी द्रव्यों का सम्मिलित रूप बह्माण्ड हो सकता है, तो भी मध्व ने इसे पृथक् द्रव्य के रूप में ग्रहण किया है। पृथक् रूप में ग्रहण करने के समर्थन में तर्क देते हुए कहते हैं कि व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् स्थिति से उनकी सामूहिकता सर्वथा भिन्न है।[1]

15. अविद्या- इस स्थूल-अविद्या का उपादान कारण पाँच भूतों में स्थित तम है। जीव में अविद्या नित्य-रूप से स्थित है। सृष्टि के काल में ब्रह्म अविद्या को अपने शरीर से उत्पन्न करता है। अविद्या की मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध-तामिस्र एवं तम ये पाँच स्थितियाँ हैं। एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार उसके चार प्रकार जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका शैवला एवं माया।[2]

16. वर्ण - आचार्य मध्व ने ध्वनियों को भी द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। मध्व का वर्णसिद्धान्त मीमांसा एवं वैय्याकरणों के अनुकूल है, किन्तु न्याय-वैशेषिक के मत को ग्रहण नहीं करते है। मध्वाचार्य कहते हैं- वर्ण व्यापक होने के कारण आकाश के समान द्रव्य है।[3]

17. तम- अंधकार में गुण (कृष्णादि) क्रियादि (गतिशील होना) पाये जाते हैं, अतः यह द्रव्य है। न्याय अंधकार को प्रकाश का अभाव मात्र मानता है, किन्तु विष्णु के द्वारा अन्धकार के विनाश का उल्लेख तथा जयद्रथ-वध के

---

1 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 52

2 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह, पृ. 962

3 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 58

लिए अंधकार को कृष्ण द्वारा उत्पन्न किए जाने सम्बन्धी उद्धरणों के आधार पर मध्व उसकी सत्ता श्रुति-प्रतिपाद्य भी मानते हैं।[1]

18. वासना- ईश्वर, निमित्तकारण बनकर, वासना का उपादान कारण के रूप में उपयोग करके, स्वप्नों का निर्माण करता हैं जो उपादान कारण होता है, वह द्रव्य होता है अतः वासना द्रव्य है। अन्य दर्शनों के समान जाग्रत-अवस्था के अनुभवों से वासनाएं बनती हैं, मध्व यही मानते हैं। वासनाएं कालविशेष में उत्पन्न होती हैं,किन्तु उनका प्रवाह अविनश्वर है।[2]

19. काल- काल की प्रकृति के द्वारा सृष्टि होती हैं जो आयु की व्यवस्था करे वह काल है।[3] प्रत्येक वस्तु काल में ही सत्तावान होती है अतः उसे उन वस्तुओं का आश्रय माना है।

20. प्रतिबिम्ब- द्वैतवाद में बिम्ब के समान एवं उससे अविभाज्य तत्त्व प्रतिबिम्ब को माना गया है।[4] प्रतिबिम्ब को बिम्ब के अतिरिक्त स्वतंत्र तत्त्व के रूप में अद्वैत वेदान्त, न्यायादि स्वीकार नहीं करते है। अद्वैतमत की मान्यता है कि पारमार्थिक दृष्टि से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कोई अन्तर नहीं है। मध्व इस अभेद को न मानते हुए तर्क देते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब पानी में अथवा दर्पण में देखता है तो उसे यह बोध रहता है कि प्रतिबिम्ब उससे भिन्न है। भिन्नात्मक अनुभव होने पर दोनों को अभिन्न कैसे माना जा सकेगा।[5]

2. गुण- गुण सर्वदा द्रव्य पर आश्रित रहता है। मध्व ने दुर्गुणों को अलग करके केवल सद्गुण-भाग को ग्रहण किया है।[6] गुणों की संख्या अनन्त हैं। मध्व के गुण स्वरूप वैशेषिक के गुणों के समान ही है किन्तु उनमें शम, कृपा, बल, भय, सज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य आदि मानसिक गुणों का समावेश अपरिहार्य माना है, अतएव गुणों में न केवल संहतिवादी सांख्य के 24 गुणों का समावेश होता है, वरन् अनेक गुणों का भी। कुछ मुख्य गुणों का उल्लेख निम्न है-

---

1 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 60
2 पद्मनाभ- पूर्वानुभवजन्याः मनोगताः एवं प्रवाहतोऽनाद्याः। पृ. 185
3 पद्मनाभ पदार्थसंग्रह- ''आयुर्त्यवस्थापकः कालः पृ. 186
4 पद्मनाभ पदार्थसंग्रह पृ. 193
5 मध्वसिद्धान्तसारपृ. 67
6 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह, पृ. 205

1. रूप - जिसके कारण हम शुक्ल, पीत, कृष्ण आदि का प्रयोग कर सकें वह रूप है। यह सात प्रकारों में प्राप्य हैं- शुक्ल, नील, पीत, लाल, हरित, कपिल एवं अनेक वर्ण युक्त।[1] जब ये नित्य द्रव्यों में आश्रित रहते हैं, तब नित्यरूप तथा अनित्यद्रव्याश्रित (जलादि) होने पर अनित्य रूप होते हैं। पदार्थ-संग्रह के अनुसार-प्रकृति के तीन वर्ण नित्य हैं। शुक्ल, लोहित एवं कृष्ण।[2] ये तीनों वर्ण सत्व रज, एवं तम इन तीन द्रव्यों के हैं, जो प्रकृति प्रसूत है। अनित्यरूप में आकाश का नीलापन, जल की शुभ्रता, वासनाजन्य स्वप्न विषयों की वर्णगत विविधता अनित्य रूपों की सूचक है।

2. रस- मध्व ने रस के छः प्रकार स्वीकार किया है- मधुर, तिक्त, अम्ल, लवण, कटु और कषाय। यह भी रूप के समान आश्रय के कारण नित्यानित्य है।

3. गन्ध - यह सु एवं कु उपसर्गपूर्वक दो ही प्रकार का है। मध्व कहते हैं- ईश्वर, लक्ष्मी एवं मुक्तात्माओं में केवल सुगन्ध एवं अन्यत्र दुर्गन्ध दोनों की स्थिति है।

4. स्पर्श - रूपादि के समान यह भी नित्यानित्य हैं यह तीन प्रकार का है शीत, उष्ण, एवं न शीत न उष्ण।

5. संख्या- मध्व-मत में संख्यागत विवेचन न्यायानुकूल है। वस्तुओं का यह गुण संख्या है, जिसके आधार पर एक दो आदि व्यवहार किया जाता है।

6. परिमाण-[3] वस्तु का वह गुण जिसके द्वारा वस्तुओं को मापा जा सके। जिसके द्वारा ही छोटा, बड़ा, सर्वव्यापक आदि होना जाना जाता है। अणु, महत् एवं मध्यम् यह तीन परिमाण के प्रकार हैं।

7. संयोग - मध्व केवल कर्मज संयोग को ही ग्रहण करते हैं। संयोगज सम्बन्ध गुण के रूप से पृथकता स्वीकार नहीं किया है। यह भी नित्यों में आश्रित होने पर नित्य एवं अनित्यों में आश्रित होने पर अनित्य दोनों ही प्रकार का है।[4]

---

1 पद्मनाभ- तच्च शुक्ल नील पीत रक्त हरित कपिल चित्रभेदात्सप्तविधम्। पृ. 206

2 पद्मनाभ, पृ. 206

3 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह, पृ. 229

4 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह पृ. 236

8. विभाग - दो परस्पर मिली वस्तुएं जिस गुण के कारण पृथक प्रतीत हों, वह गुण विभाग हैं। यह भी नित्याश्रित होने पर नित्य, अनित्याश्रित होने पर अनित्य रूप से दो प्रकार का है।

9. परत्वापरत्व - वस्तुतः ये गुण न होकर सम्बन्ध ही है, फिर भी मध्व ने वैशेषिक मत के सादृश्य के कारण इनको गुण के रूप में ग्रहण कर लिया। वस्तुओं में जिसके कारण पूर्ववर्तित्व एवं परवर्तित्व ज्ञात हो, वह गुण परत्व एवं अपरत्व है। इनके अतिरिक्त अन्य कतिपय विषयगत गुणों की प्रतिष्ठा भी मध्व में है, जो प्रायः वैशेषिक मत के समान है। स्नेह, गुरूत्व, द्रवत्व, मृदुत्व, काठिन्य आदि।

10. बुद्धि -[1] बुद्धि हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं एवं व्यापारों का कारणभूत गुण हैं। यह भी नित्यानित्यरूप द्विविध हैं। यथार्थ एवं अयथार्थ रूप से भी इसका वर्गीकरण प्राप्य हैं। ब्रह्मा से लेकर लघुतम् जीवों में यथार्थ एवं नित्य तथा अयथार्थ एवं अनित्य ज्ञान दोनों प्रकार का रहता है।

11. संस्कार-[2] संस्कार-वेग, भावना, योग्यता एवं स्थिति स्थापक इन चार प्रकारों में विभक्त हैं इनमें वेग और स्थिति स्थापक का सम्बन्ध जगत् से है तथा अन्य दो भावना और योग्यता का का स्वरूप विषयगत है। ईश्वर और लक्ष्मी को छोड़कर सभी जीवों में भावना होती है। ईश्वरादि का ज्ञान स्मृति रूप न होकर सर्वदा प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक होता है। वहाँ स्मृति का प्रसंग नहीं है।

12. आलोक - इसी गुण के कारण रूप को देखा जा सकता है। ईश्वर, लक्ष्मीयुक्त जीवों में रहने वाले आलोक नित्य, तेज आदि में रहने वाला अनित्य है।

इस प्रकार आचार्य मध्व ने अनेक ऐसे गुणों का भी वर्णन किया है जो पूर्णतः विषयगत हैं। इन गुणों का उल्लेख वैशेषिक मत में नहीं हैं। ये शम, दम, तितिक्षा, कृपा, बल, भय, स्थैर्य, लज्जा, सौन्दर्य, धैर्य, औदार्य, सौभाग्य आदि अनेक प्रकार के हैं। मध्वाचार्य के अनुसार गुण अनन्त है, परन्तु यहाँ पर प्रमुख गुणों का ही वर्णन किया गया है।

---

1 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 90

2 पद्मनाभ- ईशलक्ष्मीमुक्तानाम् स्मरणाभावान्न। पदार्थ संग्रह, पृ. 323

3. कर्म - मध्वाचार्य 'मध्वसिद्धान्तसार' में लिखते हैं कि यह न तो द्रव्य है न गुण, अपितु दोनों से ही भिन्न है। गुण के समान कर्म भी द्रव्याश्रित हैं। दोनों में एक अन्तर है कि गुण का द्रव्य के साथ रहना स्थायी है, जब कि कर्म का अस्थायी। कर्म को पाप एवं पुण्य का असाधारण कारण कहा गया है।[1] बिना कर्म के पाप-पुण्य दोनों ही सम्भव नहीं है।

कर्मों का सामान्यतः तीन वर्गों में विभाजन किया जाता है -

विहित - अर्थात् शास्त्र द्वारा व्यादिष्ट जिनकी विधि एवं प्रक्रिया शास्त्रों में प्रतिपादित है।

निषिद्ध - अर्थात् उसके द्वारा वर्जित जो कर्मशास्त्र के द्वारा निषिद्ध हैं, जैसे ब्रह्म- हत्या आदि। यह कर्त्ता को अप्रसननता प्रदान कर सकते हैं।

उदासीन - अर्थात् उसके द्वारा अनवेक्षित ये उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आंकुचन, प्रसारण, गमन, आगमन, भ्रमण, वमन, वपन, भोजन, विदारण इत्यादि अनेक प्रकार के हैं। कर्मों का एक अन्य विभाजन नित्य एवं अनित्य के रूप में भी है ईश्वर में विद्यमान सृष्टि, प्रलय आदि के कर्म नित्य होते हैं और उसके स्वरूपभूत होते हैं (स्वरूपभूताः) उसमें सृष्टि और प्रलय के विरोधी कर्म स्थित रह सकते हैं, पर शर्त पर यह है कि जब एक व्यक्त रूप में हो तब दूसरा अव्यक्त रूप से रहे।[2]

4. सामान्य - सादृश्य के कारण जब भिन्न वस्तुओं में समानता की प्रतीति होती है तो उसका कारण सामान्य है। उदाहरण के लिए 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के मनुष्यों के बोधक के रूप में हैं। इस प्रकार सामान्य का रूप अत्यन्त व्यापक हैं। मध्व ने सामान्य की विषय-रूप सत्ता स्वीकार की है, अन्य किसी भी पदार्थ में इसे न रख सकने के कारण स्वतंत्र वर्ग के रूप में परिगणन आवश्यक मानते हैं। यह क्रिया एवं गुण का आश्रय न होने से द्रव्य नहीं हैं। प्रशस्तपाद के अनुसार मध्व ने भी स्वतंत्र सत्ता के रूप में इसकी स्थिति मानी है।

---

1 "साक्षात्परम्परया वा पुण्यपापासाधारणकारणम् कर्मेति कर्मसामान्यलक्षणम्।" मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 1

2 सृष्टि-काले सृष्टि-क्रिया व्यक्त्यात्मना वर्तते, अन्यथा तु शक्तात्मना एवं संहारक्रियापि।- मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 4

मध्व सामान्य का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि जब कुछ विषयों को एक विशेष नाम से सम्बोधित किया जाता है तो उस नाम के द्वारा उन अन्य वस्तुओं को भी सम्बोधित किया जाता है जो उस नाम से मूलतः सम्बन्धित पूर्व विषयों से अत्यधिक साम्य रखती हो।[1]

सामान्य के वर्णन के प्रसंग में वैशेषिक दर्शन एवं माध्व-दर्शन में जो अन्तर है उसे जानना आवश्यक है। वैशेषिक के अनुसार यह नित्य, एक एवं अनेकानुगत है। तथा अनुवृत्ति-प्रत्यय का कारण है। मध्व कहते हैं जाति केवल एक में रहने वाली माननी चाहिए न कि अनेक में इसलिए यह अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य, गुण की पृथक्-पृथक् जाति है, उनका अन्य से सादृश्य जाति की सर्वव्यापकता का आभास प्रदान करती है। किसी विशेषता का अनेक वस्तुओं में पाया जाना मात्र यदि सामान्य अथवा जाति है तब गन्ध एवं रूप को भी जाति मान लेना चाहिए।

मध्व द्वारा प्रश्न चिन्ह लगाने के पश्चात् वैशेषिकों के द्वारा भी शंका उत्पन्न की जाती है कि यदि सामान्य के व्यापक एवं नित्य-रूप को निषिद्ध कर देने पर अनुमान की मूल आधार व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा? यदि पर्वत के धूम में एक ही जाति नही है, तब व्याप्ति-ग्रहण कैसे सम्भव होगा? मध्व इनकी शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि हेतु के रूप में धूम का उपयोग करने के लिए उनका सादृश्य ही पर्याप्त है।

जैन मत के अनुसार सामान्य अनेक, अनेकाश्रित एवं अनित्य है। पृथक्-पृथक तत्त्व के साथ ही वह उत्पन्न एवं विनष्ट होती हैं। मध्व और जैनमत की सामान्य सम्बन्धी व्याख्या समान है। उक्त सामान्य का स्वरूप मध्व के अनुसार केवल अनित्य विषयों से सम्बद्ध सामान्य के लिये हैं जीवादि में रहने वाली जाति नित्य है।

मध्व ने सामान्य के जाति एवं उपाधि यह दो रूप भी ग्रहण किया है। जिसको हम साक्षात् जानते हैं यह उपाधि जैसे गाय का सादृश्य। उपाधि अपने शोध के लिए सर्वदा पराश्रित रहती है।

---

1 अनुगत-धर्म विनापि सादृश्येन सर्वत्र व्याप्त्यादिग्रहसमीवातयं धूमः एतसदृशम् च वहिन-व्याप्य इत्य एवं क्रमेण व्याप्ति ग्रहः ''एकरूप धर्मो के आधार के विना भी 'व्याप्ति' का निरूपण सादृश्य के आधार पर सम्भव है, यथा, यह धूम है और उसके सदृश्य वस्तुएं वह्नि से सम्बन्धित हैं, आदि। मध्व सिद्धान्त-सार, पृ. 6

5- विशेष- मध्व मत में विशेष की व्याख्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता के रूप में स्वीकार की जाती है। द्रव्य और गुण का पारस्परिक-सम्बन्ध दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु अत्यन्त विवादास्पद, प्रसंग है। गुण द्रव्य से भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों में ज्ञात होते हैं। मध्व में इसका समाधान इसलिए भी आवश्यक है कि ईश्वर इस मत में अनन्त गुणयुक्त कहा गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा अन्यान्य गुणों से पूर्ण है। वे यद्यपि ईश्वर में हैं फिर भी उससे भिन्न है। इस सामधान के लिए विशेष नामक तत्त्व स्थापित किया गया है। भेद के न रहने पर भेद के व्यवहार के कारणभूत तत्त्व की 'विशेष' अभिधा है।[1]

विशेष के वर्णन के प्रसंग में द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर ध्यान देना आवश्यक है। घट और उसका कृष्णवर्ग इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? क्या ये एक है, अथवा परस्पर भिन्न अथवा भिन्न-भिन्न है? यदि दोनों में कोई भेद नहीं है तब घट और उसकी कृष्णता यह एक ही हुए। साथ ही फिर एक को घट दूसरे को कृष्ण कहना भी व्यर्थ होगा। यदि इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न स्वीकार किया जाए तो इस भिन्नता का बोध कैसे होता है। इस प्रश्न का कोई उत्तर नही मिल सकता है। तीसरा विकल्प ही अवशिष्ट है कि उनमें भेदाभेद है किन्तु एक ही साथ भेद और अभेद होना आत्म-विरूद्धोपन्यास हुआ। इस प्रकार के विरोध के समाहार के लिए मध्व ने 'विशेष' नामक पदार्थ की स्थिति स्वीकार की। ''अभेद एवं भेद इन परस्पर विरूद्ध धर्मो की एकत्र अवस्थिति के हेतु 'विशेष' ग्रहीत किया है।[2]

मध्व अपने ग्रन्थ 'अनुख्याख्यान' में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि द्रव्य ही अनन्तविशेषों से युक्त हैं। विशेषों के कारण ही उसके व्यवहार में अनन्तत्व है।[3]

जैन मत में भी वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। यह तथ्य मध्व के निष्कर्ष के समान है, किन्तु जैन मत ने विशेष नामक पृथक् तत्व ग्रहण नहीं किया उक्त विवेचन के आधार पर 'विशेष' को एक प्रकार का गुण नहीं मान लेना चाहिए। यह अन्य के साथ सम्बन्ध का माध्यम बनता है, तथा जहाँ आवश्यक होता है, वहाँ भेद स्थापित करता है।

---

1 ''भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः।'' मध्वसिद्धान्त. पृ. 6

2 जयतीर्थ- ''परस्परविरूद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रावस्थानघटनान्यामपि विशेषस्यांगी-करणीयत्वात् ।'' -न्यायसुधा पृ. 106

3 मध्व- द्रव्यमेव ततोऽनन्तविशेषात्मतया स्थितः।
नाना व्यवहृतेर्हेतुरनन्तत्वं विशेषतः।। -अनुख्याख्यान, पृ. 56

यहाँ पर पूर्वपक्षी के द्वारा एक शंका उठायी जाती है कि यदि मध्व ने द्रव्य एवं गुण के सम्बन्ध की व्याख्या की दृष्टि से 'विशेष' नामक नवीन पदार्थ का ग्रहण किया तो विशेष और द्रव्य में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक अन्य विशेष के लिए अन्य विशेष की आवश्यकता पड़ेगी इस प्रकार अनवस्थाप्रसंग होगा। इस शंका का समाधान मध्व इस प्रकार करते हैं। कि ''विशेष स्वनिर्वाहक'' है। अर्थात् अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसे किसी अन्य विशेष की अपेक्षा नही है। परिणामतः अनवस्था का प्रसंग ही नहीं उठता।[1] नित्य पर आश्रित रहने पर नित्य एवं अनित्य पर आश्रित होने पर अनित्य, विशेष के दोनों प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं।

वैशेषिक मत एवं माध्व-मत में अन्तर को जानना भी आवश्यक हैं। वैशेषिक मत में 'विशेष' केवल नित्य द्रव्य में रहता है जब कि मध्व सम्मत विशेष की नित्यानित्य वृत्ति है। वैशेषिक मत में 'विशेष' नित्यों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाले पदार्थ के रूप में प्रख्यात हैं। उनको व्यावर्तक विशेष कहा गया है।

मध्वमत में 'विशेष' का कार्य केवल भेद प्रतिपादन करना नहीं है, अपितु धर्म एवं धर्म के अभेद की सिद्धि भी करना हैं वह उनमें भेद-कथन के निर्वाह की व्यवस्था भी करता है। मध्व ने विशेष वही स्वीकार किया है, जहाँ वास्तविक भेद का अभाव हो।[2]

इस प्रकार एक का उद्देश्य भेद का ही प्रतिपादन करना है। दूसरे का अभेद का प्रतिपादन करते हुए भेद कथन का निर्वाह करना हैं अतः वैशेषिक मत एवं माध्व मत के उद्देश्य एवं प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर हैं भेदाभाव ग्रहण होने पर ही विशेष की प्रवृत्ति होती है। भेद के प्रमाणावसित होने पर वहाँ 'विशेष- की स्थिति ही नहीं रहेगी। यहाँ पर एक और वैशेषिकों का विचार जानना आवश्यक है कि वैशेषिकों के अनुसार एक 'भूत' के परमाणुओं में तथा जीवों में भी ऐसे विशिष्ट अन्तर होते हैं कि उनका योगियों द्वारा एक दूसरे से विभेदीकरण किया जा सकता है। स्वयं परमाणुओं में स्थित इन अन्तिम भेदों को कणाद सम्प्रदाय के विचारक 'विशेषों' की संज्ञा देते हैं। ' विशेष' की यह

---

1 पद्मनाभ पदार्थ संग्रह। पृ. 23

2 जयतीर्थ- यत्र भेदाभावः प्रमाणावसितो भवेत्तत्रैव विशेषो व्यवहारनिर्वाहकोऽङ्गीक्रियते। गवादिषु तु भेदस्यैव प्रमाणावसितत्वात् न व्यवहारो विशेषनिबन्धनमिति। - गीता. ता. न्यायदीपिका, पृ. 182

अवधारणा और उसकी उपयोगिता मध्व सम्प्रदाय में पायी जाने वाली विशेष की अवधारणा से भिन्न है।[1]

5. विशिष्ट[2] - मध्वाचार्य ने विशिष्ट को अलग तात्त्विक वर्ग के रूप में प्रतिश्रुत किया हैं विशेषण के सम्बन्ध के उपरान्त विशेष्य का जो रूप हो जाता है उसे विशिष्ट कहते हैं। मध्व द्वारा विशिष्ट को स्वीकार करने पर एक समस्या उत्पन्न होती है कि जब यह द्रव्य और गुण के सम्बन्ध से ही सिद्ध हो जाता है तब अलग से स्वीकार करने में क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर एवं अपनी स्थापना के समर्थन में अनेक तर्क मध्व ने स्थापित किए हैं।

मध्व कहते हैं- 'विशिष्ट' तत्त्व का अनुभव द्रव्य गुणादि का सम्बन्ध मात्र नहीं है, अपितु यह सम्पूर्णता के रूप में बोधगम्य होता हैं दण्डी पुरूष की एक पूर्ण प्रतीति विशिष्ट को पृथक् तत्त्व के रूप में स्वीकार कराती है।

6. अंशि - विशिष्ट के समान अंशि भी एक पृथक वर्ग हैं। विशिष्ट की स्थापना के लिए जो तर्क दिये गए हैं, वह इसके लिए भी सम्भव है।[3] मध्व ''मध्वसिद्धान्तसार'' में कहते हैं- यह एकत्वप्रतीति, यदि स्वतंत्र पदार्थ के रूप में कल्पित नहीं की गयी तो वह अज्ञात ही रह जायेगी।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में स्वीकृत 'समवाय' का सम्बन्ध मध्व द्वारा प्रायः उन्हीं कारणों से अस्वीकृत किया जाता है जिनके आधार 'ब्रह्मसूत्रों' पर लिखित शंकर के भाष्य में उसको अस्वीकृत किया गया हैं। न्याय-वैशेषिक का मत है कि कार्य में कारण की तथा द्रव्य में गुणों की अभिव्यक्ति स्पष्टतः एक सम्बन्ध के स्वरूप की होती है और यह सम्बन्ध 'संयोग' का सम्बन्ध नहीं होता इसलिए वह एक पृथक सम्बन्ध अर्थात् 'समवाय' का सम्बन्ध होना चाहिए। किन्तु इसी प्रकार स्वयं 'समवाय' (यथा इह तन्तुषु पटसमवाय' वाक्य में)

---

1 अस्मद् -विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृति गुण-क्रियेषु परमाबुषु मुक्तात्मसु च अन्य निमित्ता सम्भवाद्येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं इति विलक्षणोऽयं प्रत्ययव्यावृत्तिः देश-काल-विप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति ते अन्त्या विशेषाः। -प्रशस्तपाद भाष्य पृ. 921-221

2 पद्मनाभ- ''विशेषणसम्बन्धेन विशेषस्य य आकारः तद्विशिष्टम्।'' पादार्थसंग्रह, पृ. 26

3 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 77

अर्थात् तन्तु और पट के सम्बन्ध में उपस्थित समवाय को जानने के लिए अन्य समवाय की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार यह अनवस्था प्रसंग होगा।[1]

मध्व 'समवाय' नामक पदार्थ स्वीकार न करने का एक और कारण बताते हैं कि जिन स्थानों पर समवाय का होना बताया गया है, जैसे कपड़ा, वस्त्र की शुक्लता आदि, वहाँ वह दृष्टि गोचर नहीं है।

इस प्रकार मध्वाचार्य कहते हैं कि वैशेषिक सम्मत समवाय, विशेषण-विशेष्य, अवयव, अवयवी आदि बोध कराने में जनवस्था प्रसंग से दूषित होता है, अतः अग्राह्य है। समवाय के अभाव में अंशि नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना अपेक्षित है। अतः हमें 'सम्बन्धित' अथवा 'विशिष्ट' को गुण एवं द्रव्य तथा उनके परस्पर सम्बन्ध से पृथक व भिन्न पदार्थ के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।[2] इसी कारण अंशी सम्बन्धों या अंशों अथवा दोनों से भिन्न एक पृथक् पदार्थ माना गया है।

8. शक्ति - मध्वाचार्य के द्वारा 'शक्ति' एवं 'सदृश्य' जैसे तत्त्वों को पृथक् पदार्थ स्वीकार करने के कारण इन पर मीमांसा दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। एक पृथक् पदार्थ के रूपमें 'शक्ति' चार प्रकार का अस्तित्त्व रखती है

1. ईश्वर में स्थित रहस्यमय अथवा 'अचिन्त्य-शक्ति' के रूप में जो अघटित घटना के सम्पादन की भ्रमता से सम्पन्न हैं।[3] अनेक विरोधी तत्त्व ईश्वर में होने के संकेत श्रुति में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के सम्पूर्ण अन्तर्विरोधों[4] का समाधान ईश्वर की यही शक्ति करती है। यह शक्ति मनुष्य में नहीं रहती है।

2. सहज शक्ति जो स्वभावतः सर्व वस्तुओं में स्थित रहती है, और जिसके द्वारा वे सब प्रकार के परिवर्तनों को उत्पन्न कर सकती हैं सहज-शकित को एक ऐसा विशेष तत्त्व कहा गया है जो अतीन्द्रिय तथाकार्य को उत्पन्न करने में सभ्रम हैं।[5]

---

1 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 77

2 ''विशिष्टं विशेषण- विशेष्य- तत्सम्बन्धातिरिक्तमवश्यं अंगीकर्त्तव्यम्।'' मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 11

3 ''अघटितघटनापटीयस्याचिन्त्यशक्तिः।'' मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 13

4 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति दूरतः।' कठोपनिषद् 1.2.21

5 ''कार्योत्पत्त्यनुकूलोऽतीन्द्रियकारण धर्मविशेषः'' मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 14

3. किसी वस्तु में एक नवीन प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न की गयी एक शक्ति जिसे 'आधेयशक्ति' कहा जाता है, यथा एक मूर्ति में प्रतिष्ठा सम्बन्धी कर्मकाण्डीय प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न की गयी शक्ति अर्थात् प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा ही मूर्ति में एक नई शक्ति आती है।

4. शब्दों की महत्त्वपूर्ण शक्ति पाद-शक्ति हैं मीमांसक एवं वैयाकरण पद में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति को पद शक्ति मानते हैं। शब्द और उसके उद्देश्य, अर्थ के सम्बन्ध को पदशक्ति कहा गया है। इसके अभाव मेंपद अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ है।

9. सादृश्य[1] **-** मध्वाचार्य के द्वारा पृथक् पदार्थ के रूपमें 'सादृश्य' को स्वीकार करने के कारण प्रभाकर मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता हैं। दो वस्तु की समानता संवेद्य हैं। उस समानता का ज्ञान तब तक ग्रहीत नहीं होता जब तक सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ स्वीकार न किया जाय।

यहाँ पर पूर्व पक्षी के द्वारा एक शंका उठायी जाती है। कि दूसरे अर्थ में दिखायी देने वाली समानता, समान गुणों का दूसरे आधार पर पुनरीभ्रम मात्र है। जब यह कहा जाता है कि 'गवय गो सदृश्य है ' तो इसका अभिप्राय है कि गो एवं गवय के समान धर्मो को, गो से भिन्न आश्रय 'गवय' में, दूसरी बार देख लिया गया है, अतः सादृश्य को अलग से पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? सादृश्य का ग्रहण तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।

मध्व इस शंका के विरोध में तर्क देते हैं कि किसी वस्तु का गुण उस वस्तु से पृथक करके ज्ञात नहीं होता है। गवय जो सादृश्य दृष्टिगोचर है, क्या वह गाय की ही कोई विशेषता है। अथवा गवय की? पहला पक्ष सर्वथा अग्राह्य है, इसलिए कि कितना ही महान् तार्किक हो वह एक का गुण दूसरे में प्रमाणित नहीं कर सकता।[2] यदि गवय में गाय के गुण मान लिए गये तब, गवय गाय के समान न होकर गाय ही हो जावेगा। यदि इसका संबंध केवल गवय से है, तब 'गो के सादृश्य' का क्या अर्थ? अतः सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना चाहिए।

---

1 पद्मनाभ- पदार्थसंग्रह, पृ. 42

2 मध्वसिद्धान्तसार- पृ. 96

सादृश्य के ग्रहण के विरूद्ध एक समस्या उत्पन्न होती है कि गौ एवं गवय के सादृश्य में बोध के विषय समान धर्म हो सकते हैं। अतः सादृश्य पृथक् पदार्थ क्यों माना जाए?

मध्व इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि समानधर्मो को बोध का विषय ग्रहण किया गया, तो इनके समान धर्मो की समानता का ग्रहण कैसे होगा? गवय के बोध्य धर्मो में ऐसी कोई संसूचक स्थिति नहीं है जो बता सके कि वह गाय के समान हैं। इसीलिए समानता के ग्रहण के लिए पुष्ट आधार एवं यथार्थवादी विषयगत दृष्टि के समाधान के लिए सादृश्य नामक पृथक पदार्थ ग्रहण करना होगा।

सादृश्य को पृथक् पदार्थ स्वीकार करने के कारण प्रभाकर-मत से समानता तो है, परन्तु माध्व-मत से एक अन्तर भी है जहाँ प्रभाकर मत में सादृश्य एक ही है, माध्व में सादृश्य अनेक है। मध्व कहते हैं यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समान है, तो वह किसी तीसरी वस्तु से भिन्न भी है।[1] अतः उसे एक न मानकर अनेक का ग्रहण करना उचित है।

पदार्थ संग्रह कार[2] सादृश्य के प्रकार बताते हुए कहते हैं- कि सादृश्य भी नित्यानित्य रूप द्विविध है। जब मुक्त जीव सारूप्य-मुक्ति-भवति ईश्वर के सादृश्य को प्राप्त होते हैं, तो वह नित्य सादृश्य है तथा जब गौ एव गवयादि सादृश्यों का ग्रहण होता है, तब सादृश्य अनित्य है।

11. अभाव - मध्वाचार्य ने उत्तरकालीन नैयायिकों के समान अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूपमें स्वीकार किया है। जब एक व्यक्ति को देखते हैं, तब न केवल वह व्यक्ति प्रत्यक्ष है, अपितु उसमें अन्य व्यक्ति का अभाव भी प्रत्यक्ष ही है। अद्वैतमतवादी एवं प्रभाकर-मीमांसकों का कथन है कि वस्तु का यह तो स्वभाव ही है कि ''वह वही है अन्य कुछ नहीं।'' यदि दूसरा तत्त्व पहले में, अपने अभाव के ग्रहण में महत्त्वपूर्ण नहीं है, तब ''पहला व्यक्ति पहला ही है'' तथा 'वह दूसरा नहीं है'' में दूसरा अनुभव क्यों होता है, जो 'दूसरी वस्तु' से सम्बद्ध है।

एक स्वतंत्र प्रमेय के रूप में अभाव की स्थिति है तथा भावरूपा ज्ञान, मिथ्यात्व भेद एवं कारण-कार्य प्रसंग में यह इन सभी के मूल में स्थित हैं।

---

1 मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 1

2 पद्मनाभ-पदार्थसंग्रह, पृ. 46

'पृथ्वी में घट नहीं है। ' इस ज्ञान का प्रथम रूप निषेध ही है। अतः निषेध या अभाव, भाव से भिन्न रूप में ज्ञात होता है। अभाव तीन प्रकार के बताए गये हैं-

1. **प्रागभाव-** उत्पत्ति होने से पूर्व अभाव

2. **ध्वंसाभाव-** नष्ट होने के पश्चात अभाव

3. **अन्योन्याभाव-** अन्यत्व के रूप में अथवा यथा- एक जग का एक घट में अभाव होता है और एक घट का एक जग में। अतः यह अभाव भेदों से एक रूप है जो सर्व वस्तुओं के स्वरूप माने जाते हैं।[1]

अत्यन्ताभाव- वह अभाव है जो शश-शृग के समान असम्भव सत्ताओं में पाया जाता है। इस प्रकार मध्व कहते हैं जब वस्तुओं का विनाश हो जाता है तब उनके भेदों का भी विनाश हो जाता है, किन्तु ईश्वर एवं जीवों, जीव एवं जीव, अजीव एवं अजीव, अजीव एवं ईश्वर तथा अजीव एवं जीवों के मध्य पंचभेद सर्वनित्य होते हैं, क्योंकि नित्य वस्तुओं के भेद नित्य होते हैं, और अनित्य वस्तुओं के भेद अनित्य होते हैं।[2] अतः मध्वाचार्य का उक्त पदार्थ-विवेचन उनके चिन्तन की मूल यथार्थ-परक दृष्टि का परिचायक हैं। उन्होंने अन्य दर्शन-सम्प्रदायों से भी तत्त्वों के ग्रहण में किसी प्रकार संकोच नहीं किया है।

भेद का स्वरूप एवं पंचभेद- मध्व मत तथा अन्य मतों की दार्शनिक मान्यताओं के अन्तर को जानने के लिए भेद और अभेद सम्बन्धी विवेचन आवश्यक है। अभेद-प्रतीति के लिए भी भेद स्वरूप व्याख्यान अनिवार्य हैं। विना भेद-ज्ञान के अभेद-ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? मधुसूदन ने भी अपने व्याख्यान के प्रारम्भ में ही कहा कि 'भेद' के मिथ्यात्व को प्रमाणित करने

---

1 ''भेदस्तु सर्व वस्तूनां स्वरूपं नैजमत्यम् ।'' -मध्वसिद्धान्तसार, पृ. 20

2 किन्तु जयतीर्थ अपनी 'न्यायसुधा' 1.4.6 (अधिकरण, पृ. 222 में यह मानते हैं कि भेद (चाहे वे नित्य वस्तुओं में हो अथवा अनित्य वस्तुओं में हो) नित्य होते हैं। न च कदापि पदार्थानामन्योन्य- तादात्म्यमस्ति। इति अनित्यानामपि भेदो नित्येव इत्याऽहुः। पद्मनाभ तीर्थ भी अपनी 'सन् - न्याय- रत्नावली' अथवा अनुव्याख्यान में इसी विषय पर ठीक यही मत रखते हैं (1.4.6) 'विनाशिनोऽपि घटोदर धर्म-रूपो भेदः पर वाद्यभ्युपगतघटत्वादि- जातिवन्नित्योऽभ्युपगन्तव्यः।''

पर ही अभेद का सत्यत्व सिद्ध होगा।[1] यही तथ्य प्रकारान्तर से द्वैतमतानुयायी भी कह सकते हैं कि अद्वैत के निराकरण से द्वैत की सिद्धि स्वतः हो जाएगी।[2]

पंच-भेद आचार्य मध्व के द्वैत-मत के चिन्तन की आधार-भित्ति है। यही पाँच प्रकार के पारस्परिक भेद, अद्वैत मत से न केवल उसका अन्तर प्रमाणित करते हैं, अपितु उसे वेदान्त के ही अन्तर्गत, पूर्णरूपेण दूसरी कोटि में भी स्थापित करते हैं। शंकर के परवर्ती सभी वैष्णव दार्शनिक, मुक्ति के साधन की दृष्टि से, भक्ति को ज्ञान से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। यदि पंचभेद की स्थिति आचार्य मध्व ने स्वीकार न की होती तो भक्ति की भी क्या उपयोगिता रह जाती। भक्ति आराधक एवं आराध्य के सम्बन्ध पर आश्रित हैं। स्वतंत्र एवं अस्वतंत्र तत्त्व के वर्गीकरण के लिए भी पंचभेद की स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भेद की स्थिति के अभाव में मध्व-मत का अस्तित्त्व ही नहीं रहता है। यही कारण है कि मध्वाचार्य ने भेद के स्वरूप की व्याख्या एवं परमत का खण्डन विस्तार से किया है।

भेद का तात्पर्य - आचार्य मध्व कहते हैं भेद की परिभाषा की व्याख्या अत्यन्त कष्टसाध्य हो, तो भी उसके अस्तित्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। भेद सर्वजनसंवेद्य है, उसकी स्थिति सुस्पष्ट एवं शुद्ध प्रत्यक्ष पर आधारित हैं शंकर-मत में ज्ञान का मूल-आधार चेतना है। यह चैतन्य निर्विशेष एवं अखण्ड है। उसका व्याख्यान भी नहीं किया जा सकता। मध्व के ज्ञान का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वह सविशेष, विषयरूप एवं व्याख्येय है। मध्व की ज्ञान-विषयक उक्त धारणा के ही कारण भेद का वस्तु के स्वरूप के रूप में ग्रहण अनिवार्य हो गया। इसी को न मानने के कारण शंकर ने केवल एक ही तत्त्व को पारमार्थिक प्रतिपादित किया है। अद्वयतत्त्व ही वहाँ ग्राह्य है। मध्वानुयायी इसके सर्वथा विपरीत भेद की वास्तविक सत्ता मानते हुए, जगत की सतत को किसी भी तर्क के द्वारा निराकृत करने योग्य नहीं मानते। जगत्, जीव एवं ईश्वर सभी तत्त्व, सत्ता की दृष्टि से, सत्य है। भेद की सत्ता स्वतः सिद्ध होने के कारण कहा जाता है कि किसी भी वस्तु का ज्ञान दूसरी वस्तु से भिन्न रूप में ही होता है।[3] इसलिए भेद की सत्यता अथवा स्थिति के विषय में किसी प्रकार के संदेह की सम्भावना नहीं है।

---

1 मधुसूदन, अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृ. 2।

2 डॉ. के. नारायण, क्रिटीक आफ मध्व रेफूटेशन ऑव वेदान्त, पृ. 966

3 एच.एन. राधवेन्द्र- द द्वैत फिलॉसफी ऐन्ड इट्स प्लेस इन वेदान्त, पृ.185

भेद की सत्ता को पृथक् रूप से मानने वाले दार्शनिकों के चार प्रमुख वर्ग हैं-

1. भेद वस्तु का स्वरूप है।
2. भेद वस्तुओं का अन्योन्याभाव है।
3. दो वस्तुओं में वैधर्म्य भेद हैं।
4. प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने के कारण भेद पृथक् द्रव्य है।

पहला मत सांख्य-योग दर्शन में मान्य है। दूसरा न्याय, तीसरा कुमारिल तथा चौथा वैशेषिक सम्प्रदाय से सम्बन्द्ध है। प्रभाकर के अनुसार भेद अपने आश्रय का स्वरूप मात्र ही है। इस प्रकार सांख्यादि के समान ही उसकी धारणा है। कुमारिल का मत, भेद की सत्ता मानने की दृष्टि से, प्रभाकर के समान ही है। वे दोनों भेद किस प्रमाण से ग्राह्य होता है इस विषय में परस्पर भिन्न मत स्वीका करते हैं। प्रभाकर के अनुसार आश्रय के प्रत्यक्ष से ही भेद का भी प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता है कुमारिल अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा भेद का ग्रहण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भेद दो वस्तुओं में वैधर्म्य है। वैशेषिक भेद को पृथक् द्रव्य के रूप में इसलिए ग्रहण करते हैं कि वे ज्ञान के विषय को किसी न किसी प्रकार का द्रव्य मानते है।

मध्व का दृष्टिकोण भेद की सत्ता मानने वाले विचारकों के प्रथम वर्ग के अन्तर्गत हैं। मध्व भेद को वस्तु का स्वरूप ही मानते हैं। मध्व-मत में वस्तु का स्वरूपभूत भेद वस्तुतः सत्य है।[1] किन्हीं भी दो वस्तुओं में पारस्परिक भिन्नता होने पर दोनों का एक दूसरे से भिन्न होना स्वरूप ही हैं मध्व ज्ञान का स्वरूप भिन्न एवं विशेषयुक्त मानते हैं। जो वस्तु विशेषणों से सम्बद्ध होगी, वह विशेषणों के ही कारण अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न होगी। इस ज्ञान के विशिष्ट एवं भिन्न स्वरूप के समानान्तर ही मध्व की भेद सम्बन्धी मान्यता है भेद न तो पृथक् रूप से गृहीत कोई विशेषण है, और न स्वतंत्र पदार्थ। भेद वस्तु का स्वरूप ही है। वस्तु के सविशेषरूप को ही भेद का अपर पर्याय कहा जा सकता है।[2]

---

1 व्यासतीर्थ- ''सत्यम् भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपम् नात्र संशयः।'' न्यायामृत पृ.558

2 व्यासतीर्थ - ''वस्तुतस्तु अस्मिन्मते भेदो वस्तुना सविशेषाभिन्नः।'' पृ. 562

मध्वाचार्य के अनुसार- भेद वस्तु के स्वरूप से अभिन्न, स्वरूप ही है। यह विचार अद्वैत-वेदान्त के समर्थकों के विचार से सर्वथा भिन्न है। अद्वैत-विचारक भेद को मिथ्या एवं अनिर्वचनीय मानते हैं। माध्व मत के विद्वानों ने इस मत के तर्कों का खण्डन किया है।

अद्वैत-मत में स्वरूपभेद के विरोध में तर्क प्रस्तुत करने का कारण मूलाधार के रूप में अबाध रूप से सिद्ध एक निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता हैं। सापेक्षता का पर्यवसान द्वैत में होता है।

मध्व प्रत्यक्ष एवं श्रुति का आश्रय लेकर ईश्वर, जीव एवं जड़ तत्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित पाँच प्रकार के भेद मानते हैं-

1. ईश्वर का जीव से भेद
2. ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद।
3. जीव का जीव से भेद
4. जीव का जड़ पदार्थ से भेद
5. जड़ पदार्थ का जड़ पदार्थ से भेद।

मध्व मूलतः स्वतंत्र और अस्वतंत्र तत्त्व ही मानते हैं। ये तत्त्व परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर स्वतंत्र है, अन्य सभी परतंत्र है, किन्तु भेद की स्थिति को महत्व देने की अभिलाषा के कारण उन्होंने न केवल भेद को स्वीकार किया अपितु जीव से जीव, एवं जड़ से जड़ पदार्थ के भेदों को भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं के अन्तर्गत स्थान दिया।

1. मध्व- विरोधी विचारकों का कथन है, कि वेदान्त-सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र में जड़ एवं ब्रह्म के अन्तर को देखा जा सकता है, किन्तु जीव से ब्रह्म की भिन्नता का प्रतिपादन उसमें नहीं प्राप्त होता। अनुव्याख्यान के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही मध्व ने इस सन्दर्भ में विचार व्यक्त किया हैं। प्रथम सूत्र ''**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**'' में कहा गया है- जिज्ञासा एक क्रिया हैं। उसके लिए कर्त्ता और विषय का ज्ञान होना आवश्यक है जिज्ञासु एवं जिज्ञास्य के अभाव में जिज्ञासा का भी अभाव होगा। इनके रहने पर ही जिज्ञासा रहेगी। वेदानतसूत्र के अनुसार जिज्ञासु जीव है, जिज्ञास्य ब्रह्म।

2. ईश्वर से जड़-तत्त्व भी सर्वथा भिन्न हैं। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण, नियामक और संहारकर्त्ता आदि हैं। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के

द्वितीय-सूत्र के आधारपर सिद्ध करना सहज है, कि इन दोनों तत्त्वों में परस्पर भेद है। जड़ अचेतन तत्त्व है। ईश्वर चेतन है, स्वतंत्र है, तथा जड़ एवं जीव का प्रभु है। यह सभी भेद साक्षि-सिद्ध है। इसलिए ईश्वर एवं जड़ के भेद को स्वीकार कर लेना चाहिए।

3. मनुष्य की भ्रमताओं में अन्तर देखते हुए, उनमें मूल रूप से पारस्परिक अन्तर ग्रहण करना चाहिए। क्या किसी व्यक्ति में प्रतिभा का बाहुल्य एवं दूसरे में मूर्खता उनके अन्तर को स्पष्ट नहीं करती है? क्या यह केवल आभास मात्र है इस भेद को महत्त्व देने के कारण मध्व ने ऐसे वर्ग के जीवों की स्थिति स्वीकार की है, जो कभी भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म ही परस्पर भिन्न प्राणियों के कर्मों का प्रेरक है।[1] इत्यादि भेद सम्मत कथन इसमें जीव से जीव को पृथक प्रमाणित करते हैं।

4. जीव का जड़ से अन्तर भी स्पष्ट है जीव चेतन तत्त्व हैं। उसमें जड़ पदार्थ के भोग करने की भ्रमता हैं। ईश्वर से नियन्त्रित यह जीव जड़ तत्त्व के सहयोग से ही नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है।

5. जड़ पदार्थों में भी परस्पर भिन्नता हैं। यह भिन्नता कार्यजात को देखने से ज्ञात होती हैं। घट की विलभ्रमता पर भी विलभ्रमता से भिन्न है।[2] इसमें यदि मूलतः भिन्नता न होती, तो भिन्न कार्य के रूप में इनकी प्रतीति का प्रसंग भी न होता।

इन सम्पूर्ण भेद-प्रकारों के मूल में विशेष नामक तत्त्व है। यही विशेष इन तत्त्वों के भेद को प्रतिपन्न कराता है। पंचभेद के समर्थन में जयतीर्थ ने 'वादावती', व्यासतीर्थ ने 'भेदाज्जीवन' आदि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किया हैं। यही इनके मत की मूल मान्यता है। द्वैत की स्थिति के लिए जिन तत्वों की अपेक्षा है, एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के व्याख्यान की आवश्यकता है, उन सभी का समाधान पंचभेद के द्वारा हुआ है।

भेद के स्वरूप-विवेचन एवं पंच भेदों के स्थिरीकरण में मध्व ने जिस प्रकार के प्रयास किये हैं, वे बहुत तर्क संगत नहीं हैं। पॉच प्रकार के भेदों को मानना उनकी अतिवादी दृष्टि का प्रमाण हैं। यदि जीव एवं जीव, जड़ एवं जड़ में भी भेद मानना मध्व को अभीष्ट है तो जड़ एवं जीव के विविध प्रकारों पर

---

1 मध्व भिन्नकर्माशयप्राणिनां प्रेरकम्। द्वादशस्तोत्र 8/3

2 मध्व - ''न च घटाद्वैलक्षण्यमेव पटाद्वैलक्षणम्'' विष्णुतत्तवनिर्णय, पृ. 6-7

आधारित असंख्य प्रकार के भेद भी उनको स्वीकार करने होंगे। या तो वह इस प्रकार के अवान्तर भेदों के साधन के लिए प्रयत्नाश्रित ही नहीं होना चाहिए। यदि आचार्य मध्व यत्न करते हैं, तो उनको फिर सभी प्रकार के भेदों की स्थापना एवं उनकी स्वीकृति देनी चाहिए। अतः हम कह सकते हैं कि मध्व की दुर्बलता भले ही ग्रहण की जाए, किन्तु यही पंचभेद मध्व-मत का मूल आधार हैं। उसी पर उनके दर्शन का समग्र प्रासाद निर्मित है।

स्वतः प्रामाण्य- 'मध्व-दर्शन' में 'स्वतः प्रामाण्य' सिद्धान्त का अर्थ है 'साक्षी' द्वारा उस ज्ञान को सत्य समझना जिसे वह दोषों अथवा अन्य बाधाओं से अप्रतिरूद्ध होकर ग्रहण करे। 'साक्षी एक बुद्धिमान एवं चेतन प्रत्यक्षकर्ता है जो दिक् एवं दूरत्व का अन्तःप्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष कर सकता है, और जब दूरत्व इतना होता है कि उससे यह संशय उत्पन्न हो जाए कि उसके दोष ने कदाचित् प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप को प्रभावित कर दिया हो, तो बुद्धिमान अंतःप्रज्ञकर्ता त्रुटि के भय से अपना निर्णय स्थगित कर लेता है, और तब 'संशय' नामक स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मध्वाचार्य कहते हैं- ज्ञान स्वतः प्रमाण होता हैं। उसका अप्रामाण्य तब ज्ञात होता है जब उसके कारणों के दोषों का ज्ञान होता हैं। जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसी में उसकी सत्यता का गुण भी अन्तर्भूत रहता हैं। किसी दूसरे ज्ञान के कारण उसका प्रामाण्य नहीं होता। ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही विद्यमान रहता है **प्रमाणं स्वतः उत्पद्यते**। ज्यों ही ज्ञान उत्पन्न होता है, त्यों ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है- **प्रमाण्यं स्वतः ज्ञायते च**। परन्तु ज्ञान के मिथ्यात्व का ज्ञान हमें अनुमान से होता है। साधारणतः दूसरे ज्ञान के द्वारा यह मालूम होता है कि ज्ञान भ्रमपूर्ण हैं। दूसरे शब्दों में उस ज्ञान के आधार में कोई त्रुटि हैं। ऐसी अवस्था में आभार के दोष से हम ज्ञान के मिथ्या होने का अनुमान करते हैं।

इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को 'स्वतः प्रमाण' नहीं मानते हैं। नैयायिकों के मतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान की उत्पादक कारण सामग्री के अतिरिक्त बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। नैयायिकों के मतानुसार प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा निश्चित होता है। मध्व कहते हैं, ऐसा मानने से अनवस्थादोष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार किसी का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा तथा जीवन असम्भव हो जाएगा। अतः न्याय का परतः प्रामाण्यवाद खंडित हो जाता है।

भ्रान्ति और संशय- भ्रम के विषय में जितने मत हैं, उन्हें ख्यातिसिद्धान्त कहा जाता है। 'ख्याति' का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान' किन्तु दार्शनिक भाषा में यह 'भ्राम-ज्ञान' अर्थ में रूढ हो गया हैं। इसका कारण यह है कि जागतिक ज्ञान को लेकर जो विश्लेषण प्रारम्भ हुआ, वहीं अन्त में 'भ्रम-ज्ञान' के विश्लेषण में परिणत हो गया। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने भ्रम की व्याख्या करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार ज्ञान स्वप्रकाश्य होता है, उसी प्रकार वह स्वतः प्रामाणिक भी होता हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि सभी ज्ञान स्वतः प्रामाणिक है तो भ्रम की उत्पत्ति किस प्रकार होती हैं? मीमांसा और वेदान्त ज्ञान के स्वतः प्रामाण्यवाद किन्तु भ्रम के परतः अप्रामाण्यवाद में विश्वास करते हैं। ज्ञान तो स्वतः प्रामाणिक होता है, परन्तु ज्ञानकी अप्रामाणिकता दूसरे कारणों द्वारा निर्धारित की जाती है।

अन्यथाख्यातिवाद- मध्व-दर्शन में किसी विषय के अन्यथाज्ञान को भ्रम कहा जाता है- **'अन्यथा-विज्ञानम् एवं भ्रान्ति'** और भ्रम की धारणा 'सम्यक् ज्ञान' के उदय के द्वारा भ्रामक आकार के मिथ्यात्व को ज्ञात करने में निहित होता हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भ्रम वह ज्ञान है, जिसमें एक वस्तु अन्य वस्तु के रूप में भासित होती है। जो असत् है वह सत् के रूप में भासित होताहै, तथा जो सत् है वह असत् के रूप में भासित होता है।[1]

अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार भ्रम के प्रत्यक्ष-तत्त्व का अन्यथा ज्ञान होता है और रजत-तत्त्व का अन्य स्थान पर ज्ञान होता है। शुक्ति और रजत का पृथक-पृथक ज्ञान वास्तविक है, केवल दोनों का संयोग ही भवास्तविक हैं अन्यथाख्यातिवादी अपनी वस्तुवादिता के कारण रजत-ज्ञान को स्मृत्यात्मक न मानकर असाधारण प्रत्यक्ष का ही विषय मानते हैं जिसे हम ज्ञान लभ्रम प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। मध्व कहते हैं - भ्रम दोषयुक्त इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। दोष केवल विरोध ही उत्पन्न नहीं करते, वे विषय का एक गलत प्रदर्शन भी उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वे न केवल अनिरीभ्रम के लिए बल्कि कुनिरीभ्रम के लिए भी उत्तरदायी होते हैं।

यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि एक विषय के दृष्टि-प्रत्यक्ष की अवस्था में यह निश्चित है कि वह विषय इन्द्रिय-सम्पर्क के माध्यम से उत्पन्न

---

1 न्यायसुधा, पृ. 46

किया जाता है, परन्तु शुक्ति में रजत के भ्रम की अवस्था में रजत वस्तुतः अनुपस्थित होती है, अतएव उसका कोई इन्द्रिय-सम्पर्क नहीं हो सकता, और फलतः उसका कोई चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकता।

इस आपत्ति का यह उत्तर दिया गया है कि दुष्ट चक्षुरन्द्रिय ही शुक्ति से सन्निकर्ष होने के कारण एक ऐसे संज्ञान को उत्पन्न करती है, जो उसे सर्वथा असत् रजत के रूप में प्रदर्शित करता है।[1]

शंकर सम्प्रदाय के द्वारा दी गयी भ्रम की व्याख्या के विरोध में जयतीर्थ कहते हैं शंकर का यह मत सही नहीं है कि शुक्ति-रजत 'अनिर्वचनीय' है, क्योंकि इस अविर्वचनीय स्वरूप का अर्थ यह होगा कि वह न सत् है न असत् है और न सद्सद् है। इनमें से प्रथम एवं अन्तिम विकल्पों को तो मध्व-मत के अनुसार भी स्वीकार किया जाता हैं। द्वितीय मत सही नहीं हो सकता, क्यों कि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि असत् रजत का हमारे समक्ष उपस्थित होने का आभास हुआ था। यह उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त आभास दोषों की उपस्थिति के कारण हुआ था, क्यों कि जो असत् था वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता था, तथा जैसा शंकर ने अनुयायी जानते हैं कि अधिष्ठान का ज्ञान एक अन्तःकरण वृत्ति है, तो फिर कोई दोष कैसे हस्तक्षेप कर सकता है।[2] यदि वह अनिर्वचनीय है तो फिर शुक्ति-रजत प्रत्यक्षीकरण के समय सत् और उसके पश्चात् असत् क्यों भासित होता है, तथा वह किसी भी काल में अनिर्वचनीय भासित क्यों नहीं होती? इसके अतिरिक्त शंकरवादी के लिए यह व्याख्या करनी दुष्कर होगी कि असत् क्या है। मध्व द्वारा स्वीकृत अन्यथाख्यातिवाद का खण्डन भी अन्य समप्रदाय के व्यक्ति करते हैं।[3] अन्यथाख्यातिवाद भ्रम के वर्तमानत्व व एतेद्देशविशिष्टत्व की अवहेलना करता हैं। जब हमें शुक्ति का रजत के रूप में भ्रम होता है तो रजत हमारे समक्ष उपस्थित रहता है, वह अन्य देश और अन्य काल में कहीं स्थित नहीं रहता।

---

1 शुक्तिका-सन्निकृष्टं दुष्टमिन्द्रियं तमेव अत्यन्तासद्रजतामेन अवग्राहमानम् ज्ञानं जनयति। - न्याय-सुधा, पृ. 48

2 मायावादिमते अधिष्ठानज्ञानवस्य अन्तःकरण वृत्तित्वेन सत्यत्वान् न दोषजन्यत्वम्। न्यास-सुधा, पृ. 551

3 पंचपादिका भाष्य पृ. 245, नेदं रजतामिति विशिष्टं देश काल-सम्बंध रजतं विलोपय देवो देति न देशात्तर सम्बंध मायादयति तथावगमात् ।

भ्रम का निवारण होने पर जब हम कहते हैं कि 'नेदं रजतम्' अर्थात् 'यह रजत नहीं है' तो यह बाधक ज्ञान केवल एक देश और विशेषकाल के रजत-ज्ञान को ही बाधित करता है, वह किसी अन्य देश और अन्य काल के रजत-ज्ञान को बाधित नहीं करता। क्योंकि प्रत्यक्ष में रजत के अन्य देश और अन्य काल के सम्बन्ध का हमें कोई बोध नहीं होता। भ्रम का निराकरण होनेपर हमें केवल यही बोध होता है कि 'यह रजत नहीं है' हमें यह कदापि बोध नहीं होता कि 'रजत अन्य देश और अन्य काल में स्थित है।[1]

अब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का विषय केवल वहीं हो सकता है जो किसी प्रकार उसकी उत्पत्ति को प्रभावित कर सके, शुक्ति के सम्बन्ध में रजत के एक भ्रामक ज्ञान में रजत असत् होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति में कोई भाग नहीं ले सकती, अतएव वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। इसके उत्तर में जयतीर्थ कहते हैं- एक असत् वस्तु भी ज्ञान का विषय बन सकती हैं। हम सभी अतीत की घटनाओं को अनुमित करते हैं तथा वस्तुओं का उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं, जिनका अस्तित्व दीर्घकाल से समाप्त हो चुका हैं। ऐसे उदाहरणों में यह कहा जा सकता है कि असत् वस्तुओं ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया हैं किन्तु उसको निर्धारित किया हैं। इस प्रकार के निर्धारण के लिए उस वस्तु के तात्कालिक अस्तित्व को पूर्वग्रहीत नहीं किया जाता, क्यों कि उसको ऐसी प्रत्यय संकल्पना, अथवा ज्ञान तक सीमित समझा जा सकता है जिसके अनुरूप किसी वस्तुगत सत्ता की उपस्थितत अथवा अस्तित्व के प्रति कोई उल्लेख नहीं होता।

मध्व दर्शन (ज्ञान-मीमांसा)[2]

ज्ञान का स्वरूप- आचार्य मध्व अन्य वैष्णव वेदान्तियों के समान ज्ञान के सविशेषविषयत्व, स्वतःप्रामाण्य, वस्तुवाद एवं बाह्यार्थवाद का समर्थन करते हैं तथा निर्विशेषत्व और विज्ञानवाद का खन्डन। इनकी ज्ञान-मीमांसा न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। कोई वस्तु निर्विशेष सामान्य मात्र नहीं, अपितु असंख्य विशेषों वाली होती है, अतः निर्विशेष ज्ञान असम्भव है। ज्ञान किसी वास्तविक पदार्थ का होता है, उस वस्तु

---

1 नेदं रजतम् कितु देशात्तर काले वृद्धौ वेत्यनवग मादिति भावः- विवरण भाष्य, पृ. 245

2 ज्ञान-मीमांसा का विवरण मुख्यतः 'प्रमाणचन्द्रिका' पर आधारित है।

के आकारों वाली बुद्धि-वृत्ति के माध्यम से ही ज्ञाता को वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुओं के आकार का अर्थ है उसके धर्मो का साक्षी द्वारा ग्रहण। जैसी वस्तु हो ठीक उसी रूप का ज्ञान, अर्थात् यथार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान 'प्रभा' है जो स्वाभाविक रूप में स्वतः प्रमाण है। यदि ज्ञान स्वरूपतः सत्य न हो तो उसमें सत्यत्व लाने वाला कोई बाह्य हेतु नहीं हो सकता है। असत्य या अयथार्थ ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं है। साक्षी ज्ञान-स्वरूप एवं स्वयं प्रकाश है, अतः स्वयं को तथा सत्य ज्ञान के सत्यत्व को जानता है। ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य स्वयं सिद्ध है- इसकी प्रमाणिकता स्वयं उसी में, उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में निहित होती है।

ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व द्विविध होता है, उत्पत्ति और ज्ञप्ति। ज्ञान का कारण मात्र से जन्य होना उसका उत्पत्ति- स्वतस्त्व है, अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है उसी के द्वारा उसकी प्रामाणिकता भी उत्पन्न हो जाती है। ज्ञप्ति रूप स्वतस्त्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञान के ग्राहक द्वारा ही उसकी प्रामाणिकता ग्राह्य होती है अर्थात् ज्ञाता ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का प्रामाण्य भी ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान या अप्रभा का परतः प्रामाण्य भी उत्पत्ति और ज्ञप्ति रूप में सम्पन्न होता है।

सांख्य प्रभा और अप्रभा, दोनों का स्वतः प्रामाण्य मानते हैं तो नैयायिक दोनों का परतः प्रामाण्य। नैयायिक संवाद-विसंवाद आदि लिंगजन्य प्रामाण्य मानते है। बौद्ध ज्ञान का प्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं। अन्य वेदान्ती प्रायः मध्व से ही सहमत है।

मध्व के मत में साक्षी के बिना ज्ञान प्रमाणिक नहीं होता, क्योंकि ज्ञान साक्षी का बोध या पौरूषेय बोध है। ज्ञान के अप्रामाण्य का बोध उसके विसंवाद आदि के द्वारा अनुमान से ही होता है। अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञान का स्वतः-प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा एक ज्ञान की प्रमाणिकता किसी अन्य ज्ञान से, उसकी और किसी से माननी होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। साक्षी को ज्ञान एवं उसकी प्रामाणिकता, दोनों ज्ञात हो जाते है। अन्तःकरण का वृत्ति-रूप ज्ञान जड़ात्मक होने से स्वयं अपने को या अपनी प्रामाणिकता को नहीं जान सकता है। मध्व के अनुसार साक्षी ही सभी प्रमाणों का प्रमाण है, क्योंकि वही सारे निश्चय, अध्यवसाय या अनुभव के मूल में है। अतः प्रमाण या वृत्तिजन्य ज्ञान पौरूषेय-बोध-रूप या साक्षी के निर्णय-रूप अनुभव में पर्यवसित हो जाता है।

प्रमाण का अर्थ - इस प्रकार ज्ञानमीमांसा के प्रसंग में प्रमाण का लभ्रम बताते हुए मध्व कहते है- 'प्रमाण' वह है जो किसी ज्ञान के विषय को अपने यथार्थ रूप में ग्राह्य बनाए- यथार्थं प्रमाणम्। प्रमाण का कार्य-व्यापार इसमें निहित है कि अपरोक्ष अथवा परोक्ष रूप में ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाता है। प्रमाण के दो कार्य-व्यापार होते है-

1.किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाना ज्ञेय- विषयीकरण।

2. उस वस्तु की ज्ञेयता का सम्पादन करना ज्ञेयता सम्पादन

'यथार्थं प्रमाणम्' के रूप में मध्व द्वारा दी गयी 'प्रमाण' की परिभाषा का अर्थ है- वह जिसके द्वारा एक विषय अपने यथार्थ स्वरूप में ज्ञात किया जाता है। उसको उत्पन्न करने वाला साधन बाह्य इन्द्रिय-सम्पर्क प्रमाण है इत्यादि हो सकता है जिसे यहाँ 'अनुप्रमाण' कहाँ गया है, और जो न्याय-दर्शन की 'सामग्री' के अनुरूप है, तथा 'साक्षी' की अन्तः प्रभा के प्रातः प्राज्ञ व्यापार का प्रयोग (केवल-प्रमाण) जो आत्मन् से एकरूप है।

माध्वमत के अनुसार 'प्रमाण' दो प्रकार का होता है- यथार्थ ज्ञान के रूप में प्रमाण- (केवल प्रमाण) तथा ज्ञान के 'साधन' के रूप में प्रमाण 'अनुप्रमाण'। 'केवल-प्रमाण' वह है जिससे ज्ञान के विषयों का अपरोक्ष एवं तत्काल ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः वह अंत प्रज्ञात्मक प्रक्रिया एवं अंतर्ज्ञान दोनों रूपों में होता है। मध्व-सम्प्रदाय में ऐसे चार प्रकार के अन्तर्ज्ञान स्वीकार रूप गये हैं- वे हैं- ईश्वर ज्ञान, लक्ष्मीज्ञान, योगिज्ञान और अयोगिज्ञान।[1] ईश्वर का अंतर्ज्ञान सदा प्रामाणिक, स्वतंत्र, अनादि एवं नित्य, पूर्णतः स्पष्ट और सर्वार्थ विषयक होता है। लक्ष्मी का अन्तर्ज्ञान ईश्वर पर निर्भर होता, और स्पष्टता में उसके ज्ञान से निम्न कोटि होता है, वह समान रूप से अनादि, नित्य तथा स्पष्ट होता है, और स्वयं ईश्वर के सम्पूर्ण विस्तार के अतिरिक्त शेष सारी वस्तुएं उसका विषय होती हैं। योगि-ज्ञान अतिशय ज्ञान होता है जो ऋजु योगिज्ञान, तात्त्विक योगिज्ञान तथा अतात्त्विक योगिज्ञान के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से प्रथम, जो ऋजुज्ञान है, वह ईश्वर से अन्यत्र सर्वविषयक होता है एवं स्वरूपज्ञान तथा मनोवृत्ति रूप ज्ञान भेद से दो प्रकार है। यह यथार्थ होता है। इसके विपरीत तत्त्वाभिमानियों अर्थात् देवों का तात्त्विक योगिज्ञान सर्वविषयक नहीं होता है। यह स्वरूप अर्थात् यथार्थ तथा बाह्य अर्थात्

---

1 ईश्वरज्ञानं लक्ष्मीज्ञानं योगिज्ञानं अयोगिज्ञानं चेति। न्यायपद्धति, पृ. 16।

कभी अयथार्थ ज्ञान भेद से दो प्रकार का है। अयोगिज्ञान सामान्य जीवों का होता है, जो तीन तरह का होता है- मुक्तियोग्य जीवों का रूवरूपज्ञान यथार्थ, नित्य-संसारियों का यथार्थ और अयथार्थ मिश्रित एवं अन्य का (तामस पुरुषों का) तो अयथार्थ ही होता है।

आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्येन्द्रिय को साक्षी कहते है। मन, इन्द्रिय आदि से जन्य अन्तःकरण के परिणामरूप वृत्ति-ज्ञान अचेतन होने के कारण स्वयं अपने अस्तित्व को प्रकट नहीं कर सकता, अतः साक्षी द्वारा प्रकाशित एवं प्रमाणित होता है। वृत्ति-ज्ञान का फल-रूप प्रभा साक्षीनिष्ठ होती है। इस प्रकार वृत्तिज्ञान और साक्षी ज्ञान, दो प्रकार के ज्ञान मध्व दर्शन में मान्य है।

प्रमाण के प्रकार - यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं। अनुप्रमाण वृत्तिज्ञान को कहते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द भेद से तीन प्रकार का है।

प्रत्यक्ष- प्रत्यक्ष का लभ्रम है- प्रायः आसन्न और अत्यवहित रूप से विद्यमान वस्तुओं का ग्राहक साधन अर्थात् निर्दोष इन्द्रियों से वस्तु के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह सात प्रकार का होता है- क्योंकि मन, नेत्र, त्वक्, रसना, श्रोत्र और घ्राण ये सात इन्द्रियाँ हैं। इनमें से प्रथम प्रमाता का स्वरूपेन्द्रिय साक्षी कहलाता है जिसके विषय हैं- आत्मा का स्वरूप और उसके धर्म। आत्मा के धर्म हैं- भावरूप अविद्या, मन एवं उसकी वृत्तियाँ, ज्ञान, सुख आदि काल तथा अव्याकृत आकाश आदि। पाँच बाह्येन्द्रियों से निरपेक्ष अतीत कालिक पदार्थ मन के विषय है, अतः स्मृति होती है जो संस्कारवश मानस-प्रत्यक्षजन्य होती है।

बाह्येन्द्रियों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया इस प्रकार है- आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का वस्तु से संयोग होता है। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ साक्षात् सन्निकन्ट होकर ज्ञानोत्पत्ति का कारण बनती है। न्याय, वैशेषिक मत में मान्य छः प्रकार के सन्निकर्ष को अनुचित स्वीकार करते हुए माध्व-वेदान्त में परम्परानुगत प्रत्यक्ष का खण्डन तथा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को साक्षी एवं एक ही माना गया है।

जयतीर्थ न्याय द्वारा मान्य 6 प्रकार के सन्निकर्ष की आवश्यकता का परिहार करते हैं- यह खन्डन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि मध्वाचार्य ने 'समवाय' सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया है, और न यह स्वीकार

करते है कि वस्तुओं और उनके गुणों में कोई भेद होता है। वे गुणी व गुणों में अभेद मानते हैं- गुणगुण्यभेद। इसलिए जयतीर्थ के अनुसार-इन्द्रिय-सम्पर्क एक ही घटना के रूप में सम्पन्न होता है, एक ओर तो इसलिए कि गुणों और वस्तुओं में कोई भेद नहीं होता, दूसरी ओर इसलिए कि आत्मन् एवं उसके धर्मों का अन्तः प्राज्ञ सत्ता द्वारा अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाता है तथा 'मनस' के सम्पर्क की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतएव न्याय के अनुयायियों द्वारा प्रस्तावित 6 प्रकार के सम्पर्क को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

न्यायदर्शन में 'निर्विकल्प' और 'सविकल्प' ज्ञान में भेद किया है। निर्विकल्प का अर्थ है- विषय का स्वयं में ऐसा सरल संज्ञान जो आठ प्रकार के प्रत्ययात्मक विकल्पों से रहित हो। आठ विकल्पों का स्वरूप इस प्रकार है -

1. **द्रव्य-विकल्प** यथा एक दंड को रखने वाला (द्रव्य-विकल्पों यथा दंडी)। आठ विकल्पों का स्वरूप इस प्रकार है-
2. **गुणविकल्प** यथा 'शुक्ल'- गुणविकल्पों यथा शुक्लः संस्कृत में समस्त पद जोड़कर लिखे जाते हैं। उनके बीच में नहीं लगता
3. **क्रियाविकल्प** यथा 'वह जाता है' क्रियाविकल्पों यथा गच्छति
4. **जातिविकल्प** यथा 'गौ' जातिविकल्पों यथा गौः
5. **विशेषविकल्प** यथा परमाणुओं के चरम विशिष्ट लभ्रम होते हैं जिनके कारण योगीजन एक परमाणु का अन्य परमाणु से विभेद करते हैं- विशेष विकल्पों यथा विशिष्टः परमाणुः
6. **समवायविकल्प** यथा एक पट में तन्तु समवाय विकल्पो यथा पटसमवायवन्तास्तन्तवः
7. **नामविकल्प** यथा देवदत्त नामक मनुष्य नाम विकल्पो यथा देवदत्तः
8. **अभावविकल्प** यथा भूमि पर घट का अभाव है अभाव विकल्पो यथा घटाभाववद् भूतलम् ।

जयतीर्थ कहते हैं कि निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्षों के इन विभेदों में से एक को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे 'विशेष' एवं 'समवाय' नामक दो पदार्थों की मान्यता पर आधारित है, जो दोनों हमें अमान्य है।

प्रत्यक्षज्ञान में नाम का बोध **पश्चाद्वर्तीक्षण** में क्रियाशील स्मृति के द्वारा होता है किसी प्रत्यक्ष का नाम तथा किसी सत्ता का अभाव स्वयं उस सत्ता की स्मृति पर निर्भर होता है। इस प्रकार यद्यपि नाम या अभाव का ज्ञान 'सर्वप्रत्यक्षप्रत्यक्षीकरण' के प्रथम भ्रम में उत्पन्न नहीं होते, तथापि चूँकि, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि जैसे कुछ प्रत्यय प्रत्यक्षीकरण के प्रथम भ्रम में ग्रहण किये जाते हैं, इसलिए ''निर्विकल्प प्रत्यक्ष'' के अस्तित्व की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है।

'सविकल्प' का खण्डन करते हुए? जयतीर्थ कहते है- कि 'समस्त प्रत्यक्ष सविकल्प होते हैं'- न्याय का यह खण्डन स्पष्ट नहीं है कि किसी विषय की उपयोगिता अथवा अवोहनीयता की अनुभूति प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप होती है, क्योंकि इनकी उपलब्धि अनुमान द्वारा की जाती है।[1] जब एक मनुष्य एक काँटे से बचता है तब उसका कारण यह है कि वह अपने अतीत के अनुभव से यह निर्णय कर लेता है कि वह उसे दुःख पहुँचाएगा, जब वह किसी वांछनीय वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है तो ऐसा वह अतीत में उसके वांछनीय की अनुभूति पर आधारित अनुमान से करता है।

2. अनुमान - जब एक विशेष देश काल संबंध में अनुभूत वस्तु किसी अन्य देश काल संबंध में अनुभत अन्य वस्तु की मान्यता के अतिरिक्त असत्य हो, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन दोनों में स्थित सम्वन्य एक 'व्याप्ति' सम्बन्ध है, जो पूर्वोक्त के आधार पर पश्चायुक्त के अनुमान को प्रेरित करता है।[2]

मध्वाचार्य अपने ग्रन्थ ''प्रमाण लभ्रम'' में कहते हैं- सत्य अनुमान के समस्त उदाहराणों में अवशेष विधि आवश्यक विधि होती है।[3] किसी सत्य अनुभव के संबंध में अनुपपत्ति के कारण ही एक अनुमान की प्रक्रिया में साध्य की आवश्यकता सिद्ध होती है।[4]

---

1 जयतीर्थ -'न्यायमंजरी', पृ. 67-71।

2 यद्देश काल सम्बन्धस्य यस्य यद् देश-काल सम्बन्धेन येन विनानुपपत्तिस्तस्थिव तेन सह व्याप्तिः। व्यासतीर्थ, कर्त-ताण्डव, पां.लि.पृ.1

3 परिशेषोऽर्थापत्तिरनुमानमित्यविशेषः। -'प्रमाण-लक्षण' और 'प्रमाण-लक्षण-टीका' पृ. 27

4 अनुमानपि आवश्यकानुपपव्यैव गमकम्। व्यासतीर्थ, तर्क-ताण्डव पां.लि. पृ.2

अनुमान के मुख्य दो अंग हैं- व्याप्ति और समुचित देश-विशेष में साध्य की स्थिति। उन्हें **'पक्षयमीता-नियम'** अनुमान के अनिवार्य अङ्ग के रूप में मान्य नहीं है। व्यक्ति साध्य के साथ हेतु के व्यक्ति साध्य के साथ हेतु के अव्यभिचरित सम्बन्ध या साहचर्य नियम को कहते हैं। जैसे- जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है। धूम व्याप्य है और अग्नि व्याप्क व्याप्य का समुचित देश-विशेष में रहना ही पक्षधर्मता है। साध्य और हेतु के बीच समानाधि करण्य विवक्षित नहीं, अपितु केवल साहचर्य-नियम का सम्यक् ज्ञान ही अनुमिति में कारण है। अनुमान के तीन प्रकार है-

1. कार्यानुमान,
2. कारणानुमान,
3. अकार्यकारणानुमान।

1. धूम से अग्नि का अनुमान कार्यानुमान है, क्योंकि यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है।

2. कारण से जहाँ कार्य का अनुमान होता है वहाँ कारणानुमान होता है, जैसे विशेष प्रकार का बादल देखकर वर्षा का अनुमान करना।

3. जो अपने साध्य का न तो कारण है और न कार्य, फिर भी अनुमापक होता है वह अकार्याकारण अनुमान होता है, जैसे रस, रस रूप का अनुमापक है।

दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट भेद से भी अनुमान दो प्रकार का होता है-

1. प्रत्यक्षयोग्य वस्तु का अनुमापक दृष्टानुमान है, जैसे- धूम और अग्नि का।

2. प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु का अनुमापक सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, जैसे रूप आदि के ज्ञान से चक्षु का ज्ञान।

अनुमान दो प्रकार का और कहा गया है-

1.'स्वार्थ'- जहाँ व्याप्ति सहित हेतु का ज्ञान हमारे मन में स्वतः उत्पन्न होता है।

2. परार्थ- जहाँ उक्त ज्ञान अन्य लोगों की शिक्षा के लिए होता है।

मध्वाचार्य स्वार्थ एवं परार्थ के भेद को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि वे पंचावयव रूप परार्थानुमान को अनियमित एवं असंगत मानते हैं। मध्व कहते

हैं कि पंचावयव रूप वाक्यों की उपयोगिता व्यक्तियों को एक व्याप्ति-विशेष का स्मरण करवाने में है अथवा जो व्यक्ति उसे नहीं जानते थे उनमें ताद्विषयक जिज्ञासा उत्पन्न करने में निहित हैं, इसलिए अनुमान जिन परिस्थितियों में किया जा रहा है, तदनुसार अथवा अनुमान करने वाले व्यक्ति की मनः स्थिति के अनुसार केवल उतने ही वाक्यों की आवश्यकता होती है जितने उद्देश्य पूर्ति में सहायक होते हैं। अतएव ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जिनमें केवल प्रतिज्ञा हेतु एवं उदाहरण ही आवश्यक होते हैं, अथवा ऐसे उदाहरण भी हो सकते हैं जिनमें केवल हेतु से संयुक्त प्रतिज्ञा की आवश्यकता होती है, अथवा जब कुछ उदाहरणों में प्रतिज्ञा पूर्वग्रहीत होती है, अथवा जब कुछ उदाहरणों में प्रतिज्ञा पूर्व ग्रहीत होती है, तब केवल हेतु ही आवश्यक होता है, इत्यादि।[1] इसलिए अनुमान के लिए आवश्यक संघटन वाक्यों की संख्या के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं होता, परिस्थिति-विशेष पर भी वाक्यों की संख्या निर्भर होती है।

शब्द - वेदों का स्वतः प्रामाण्य है, ऐसा माना गया है। वे 'अपौरूषेय' और 'नित्य' है। वे ज्ञान के प्रामाणिक साधन हैं और उनकी प्रामाणिकता किसी मनुष्य की वाणी से उत्पन्न नहीं है, अतः उनको अपौरूषेय मानना चाहिए।[2]

आचार्य मध्व 'निर्दोष' को शब्द कहते हैं। शब्द के सात दोष होते हैं- अबोधकता, विपरीतबोधकता, ज्ञातज्ञापकता, निष्प्रयोजनता, अनिभिमतप्रयोजनता, अशक्य-साधन, प्रतिपासदकता तथा गौरव। शब्द पद और वाक्य है।

आकांक्षा योग्यता सम्पन्न सन्निहित पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य करण या साधन हैं। पदार्थ की स्मृति अवान्तर व्यापार है तथा वाक्यार्थ का ज्ञान फल है। शब्द या आगम शक्ति ग्रह आदि से अच्छी तरह श्रुत होने पर ही विषय का बोधक होता है, प्रत्यक्ष के समान सत्ता मात्र से नहीं क्योंकि आगम प्रमाण भी अनुमान के समान ज्ञात साधन वाला होता है। तात्पर्य यह है कि आगम अपने स्वरूप के अस्तित्व मात्र से, बिना किसी श्रवण के, अपने विषय का बोध नहीं करा सकता। शक्ति उसे कहते हैं जो विषय की स्मृति के अनुकूल

---

1 विवादेनैव प्रतिज्ञा- सिद्धो कुतः पर्वतोऽग्निमानिति प्रश्ने अग्नि-व्याप्त-धूमवत्वादिति हेतुमात्रेण वा।-मध्वाचार्य, प्रमाणलक्षण, पृ. 30

2 पौरूषेय- शब्दाप्रमाणकत्वे सति सप्रमाणकत्वात्। व्यासतीर्थ, तर्क-ताण्डव पां. लि., पृ. 100

शब्दार्थ संबंध है। वह योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि तीन प्रकार की होती है, इन्हें मुख्य वृत्तियाँ कहते हैं। लभ्रम, जो शक्यसम्बन्ध- रूप वृत्ति है, वह गौण वृत्ति है और जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा भेद से दो प्रकार की होती है। जहल्लक्षणा वहाँ होती है- जहाँ वाच्यार्थ का अन्वय नहीं होता, जैसे 'गङ्गायां घोषः' अजहल्लक्षणा वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ का भी अन्वय होता है जैसे- 'छतरी वाले जा रहे है'। अजहल्लक्षणा के प्रयोजन-निरपेक्ष और प्रयोजन सापेक्ष दो भेद हैं।

आगम या शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है- अपौरूषेय या नित्य और पौरूषेय या अनित्य। स्वर्ग- अपवर्ग आदि का विशेष ज्ञान अनुमान या प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है अकेज्ञान के लिए शब्द प्रमाण की स्वीकृति आवश्यक है। वेद आदि सत्य आगम अपौरूषेय है, तथा महाभारत, रामायण, पञ्चरात आदि पौरूषेय आगम है।

अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है, क्योंकि जीवित चैत्र घर में नहीं है, ऐसा देख या सुनकर उसके बाहर होने का अनुमान किया जाता है। उपमान भी अनुमान के ही अन्दर समाविष्ट है। अभाव भी स्वतंत्र प्रमाण नहीं है क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष के अन्दर गणना हो सकती है कारण यह है कि भाव के समान अभाव का भी इन्द्रिय-सन्निकर्ष हो जाता है। सम्भव, ऐतिह्य, प्रतिभा आदि अन्य प्रमाणों का भी इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाने से इनके लिए स्वतंत्र विषय ही नहीं रह जाता है। इस प्रकार मध्व मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण ही स्वीकार किये गये हैं। आचार्य मध्व तीनों प्रमाणों में प्रत्यक्ष को सर्वाधिक प्रामाणिक और निश्चयात्मक स्वीकार करते हैं।[1] मध्वाचार्य का कथन है कि किसी भी तर्क द्वारा अथवा अन्य प्रमाण द्वारा अनुभव या प्रत्यक्ष का बोध सभव नहीं है, रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत में मात्र अयथार्थ प्रत्यक्ष होता है जिसका बाध यथार्थ प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है न कि अनुमान या शब्द द्वारा। मध्वाचार्य के अनुसार दिशाभ्रम किसी तर्क या शब्द-प्रमाण से नहीं अपितु उदीयमान सूर्य के प्रत्यक्ष द्वारा ही मिट जाता है, क्योंकि विरूद्ध प्रत्यक्ष यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं होते है।

मध्वाचार्य प्रत्यक्ष प्रमाण की सर्वाधिक महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध या असिद्ध नहीं होता है क्योंकि

---

1 नहि दृष्टेर्बलवत्किचित् प्रमाणम् । - तत्त्वोद्योत, पृ. 31

प्रत्येक प्रमाण की प्रामाणिकता और निश्चयात्मकता स्वयं उसी प्रमाण में निहित होती है, प्रत्यक्ष तो अनुमान और शब्द का आधार है।

शब्द-प्रमाण अपने विषयभूत पारमार्थिक या अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञान में तर्क की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि पूर्णतः स्वतः प्रमाण है।[1] ईश्वर के स्वरूप और सत्ता के संबंध में श्रुति के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं है, तर्क और शब्द के मध्य विरोध नहीं उत्पन्न हो सकता है।[2]

यद्यपि आगम के आधार पर विष्णु के ज्ञेय स्वरूप को हम तर्क या मनन द्वारा सुनिश्चित कर सकते हैं तथापि तर्क के स्थान पर कुतर्क को स्थान नहीं देना चाहिए।

1 श्रुतिविरोधेन स्मृतीनामेव अप्रामाण्यं दोषप्रसंगात् । तत्वप्रकाशिका, पृ. 79

2 न हि शब्दैकसमधिगम्यवस्तुनि युक्तिविरोधः। - वही, पृ. 90

चतुर्थ अध्याय

परमसत्ता का स्वरूप (ईश्वर तत्त्व)

ब्रह्म की स्वरूप समीक्षा - कौतूहल या इस नानारूपात्मक चित्रविचित्र सृष्टि के कारण की जिज्ञासा, भय एवं त्रास से त्राण पाने की तथा स्थायी सुख प्राप्त करने की अभिलाषा किसी महत् आलम्बन के प्रति आकृष्ट होने की सहज वृत्ति और उसका आलम्बन लेकर आध्यात्मिक प्रगति करने की भावना, महत् एवं अगम्य को सर्वार्पण करने की आतुरता, उसके साथ अभेद या साम्य प्राप्त करने की वृत्ति तथा इनके जैसे दूसरे अनेक निमित्त चेतन जीव में क्रमशः या एक साथ उदीयमान होते हैं। इसके परिणामस्वरूप ईश्वर के स्वरूप की गवेषण होती है।

बहुदेववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद अथवा ऋग्वेद के मन्त्रों का ब्रह्मपरक विवेचन, इनमें से किसी भी विचार को ग्रहण किया जाए, मनुष्य से अधिक शक्तिशाली तत्त्व की स्वीकृति इन मन्त्रों में प्रतिपाद्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं। अपने से श्रेष्ठ की स्थापना उसके प्रति श्रद्धापूर्वक समर्पण की भावना, ईश्वर तत्त्व की संस्थिति के मूल में है। वैदिक-साहित्य की इन प्रारम्भिक रचनाओं में आचार-व्यवहार के नियामक के रूप में भी इन देव शक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

धार्मिक मत-मतान्तरो में आचार की दृष्टि से कोई नियामक तत्त्व प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति है। उक्त कारणों से ईश्वर-तत्त्व की विवेचना ने भारतीय दर्शन में स्थान प्राप्त किया। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त इस तत्त्व की प्रारम्भिक मान्यता के स्वरूप का अपेक्षाकृत स्पष्ट एवं सुस्थिर प्रतिपादक है।[1] सर्वेश्वरवाद पुरुषसूक्त में प्राप्य है।[2] अग्नि तत्त्व मातरिश्वा, वरुण, आदि उसी प्रभुता सम्पन्न तत्त्व के ही रूप है। वह तत्त्व एक है किन्तु विद्वज्जन उसे अनेक संज्ञाओं से अभिहित करते हैं।[3] मनुष्यों में उसी की वाणी है, पक्षियों के कलरव

---

1 ऋग्वेद 10/90

2 मेक्डोनल हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 116-138

3 इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सः सुपर्णा गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।। - ऋग्वेद 1/164/46

में भी वही है, प्रचण्ड गर्जन में उसी का आक्रोश अभिव्यक्त है, नभोमण्डल में चन्द्र, सूर्य एवं तारागणों की स्थिरता का आधार वही है।[1]

उपर्युक्त भूमिका से एक अलौकिक सत्ता का अस्तित्त्व स्पष्ट हो जाता हैं। इस सत्ता के अस्तित्त्व को कोई भी दार्शनिक अस्वीकार नहीं करता है। उनमें मतवैभिन्य उस सत्ता के स्वरूप को लेकर है, अस्तित्व को लेकर नहीं। उपनिषदों में इस अलौकिक सत्ता को ब्रह्म नाम से सम्बोधित किया गया है। **''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' -** ब्रह्म अथवा ईश्वर के स्वरूप में कुछ ऐसी विशेषता है कि जीव उसके प्रति आकृष्ट होकर उसकी जिज्ञासा करता हैं जिज्ञासा उत्पन्न होने पर **''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा''** सूत्र की व्याख्या आवयक हो जाती है। ईश्वर अनन्त गुणों का साकार होने के कारण पूर्ण और जीव अल्प है, इसलिए उसके मन में ईश्वरविषयक जिज्ञासा होती है।[2] इस जिज्ञासा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। ब्रह्म के स्वरूप के साक्षात् अनुभव के लिये ब्रह्मजिज्ञासा की आवश्यकता होती है। निखिल दोषों से रहित, असंख्य कल्याण गुणों से युक्त, सर्वेश्वर पुरुषोत्तम ही ब्रह्म शब्द का अभिधेय है, और यही जिज्ञासा का कर्मभूत है।

बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र **'अथातोब्रह्मजिज्ञासा'** पर आचार्य मध्व विचार प्रकट करते हुए भगवान विष्णु के आग्रह को ब्रह्मजिज्ञासा का हेतु मानते हैं। भगवान विष्णु की विशेष कृपा केवल उनके सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, अतः ब्रह्मज्ञान के उद्गम के रूप में ब्रह्मजिज्ञासा उनके अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए अपरिहार्य है। ''ब्रह्मजिज्ञासा परमेश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न होती है, क्यों कि वही हमारी मानसिक वृत्तियों का प्रेरक है।[3]

मध्वाचार्य के अनुसार 'अथ' शब्द मंगलार्थक है साथ ही वह अधिकार और आनन्तर्य का भी द्योतक है। 'अतः' शब्द हेत्वर्थक हैं। समस्त वाङ्मय के आतमभूत परब्रह्म का अभिधायक वर्ण अकार है। 'अतः' शब्द का 'तकार' एवं अथ शब्द का 'लकार' ये दोनों उस अकार स्वरूप आत्मा के प्राण है जो कि

---

1 ऋग्वेद 10/121/5

2 मध्व ब्रह्मशब्देन पूर्णगुणत्वेनानुभवसिद्धात्मगुणो जीवो भेदः। -न्यायविवरण 1/1/1

3 अथ शब्दस्यातः - शब्दो हेत्वार्थे समुदीरितः।
परस्य ब्रह्मणोविष्णोः प्रसादितिवा भवेत् ।
स हि सर्वमनोवृत्ति- प्रेरकः समुदाहृतः। -ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/1

व्याप्ति और स्थिति के विधायक है। इसलिए इनका सर्वप्रथम उच्चारण करना चाहिए। ऐसा ऋषियों का मत है। 'अथ' और 'अतः' शब्द के इस महत्त्व को जानकर ही सूत्रकार, सूतों में इनका सर्वप्रथम प्रयोग करते हैं।

आचार्य मध्व प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के अन्त में कहते हैं ''बिना नारायण की कृपा के मोक्ष सम्भव नहीं है। बिना भगवान् के स्वरूपज्ञान के उनकी कृपा भी संभव नहीं है। इसलिए ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए।'' मध्वाचार्य ने श्रवण, मनन और ध्यान के साथ भक्ति को भी ज्ञान प्राप्ति का साधन स्वीकार किया है इनके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है इन साधनों के बिना कभी किसी ने ज्ञान नहीं प्राप्त किया।

मध्व भगवान् विष्णु के आग्रह को ब्रह्म-जिज्ञासा का हेतु मानते हैं। इस प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा में संलग्न होने में हमारा प्रयोजन सब ओर से पूर्ण एक सत्ता के रूप में विष्णु का काल प्राप्त करना है।

मध्वाचार्य के दर्शन में ईश्वर विष्णु के रूप में विख्यात है-

''**ब्रह्मशब्दस्श्च विष्णानेन**'' अर्थात् ब्रह्म शब्द विष्णु के लिए ही प्रयुक्त होता है। आचार्य मध्व पूर्णप्रज्ञभाष्य में विष्णु की व्याख्या स्पष्ट रूप से करते हैं, जिससे ईश्वर के विषय में भ्रान्ति न रह जाए, इसकी स्पष्टता के लिए कई उदाहरण देते हैं-

नामानि विश्वानि न सन्ति लोके यदाविरासीदवृतस्यसर्वम् ।

नामानि सर्वाणि ममाविशन्ति तं वै विष्णु परममुदाहरन्ति।।

अर्थात् इस नाम रूपात्मक सृष्ट जगत् में जो कुछ है वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं है, सारे नाम जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उस परम ब्रह्म को विष्णु कहते हैं। ऐसी भाल्लवेयश्रुति भी है।

मध्व निर्गुण ब्रह्म को भी विष्णु ही कहते हैं- जिसका स्पष्ट प्रमाण देते हैं-

स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः।

एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृद् ॥

अर्थात् वह निर्गुण देव पुरुषोत्तम अनेक होकर, पुनः एकीभूत होकर सोता है, वह निर्दोष हरि ही सृष्टिकर्त्ता हैं इत्यादि में अपने को ही अपने में लीन करने का वर्णन किया गया है, इससे शास्त्र प्रतिपाद्य परमात्मा की ही सिद्धि होती हैं। गौण आत्मा में निर्दोष ब्रह्म का लय सम्भव नहीं है। सर्वअन्नमयता

आदि भी ब्रह्म शब्द से प्रसिद्ध हैं, फिर भी ये शब्द आनन्दमय शब्द से वाच्य नहीं है, विष्णु ही वाच्य है। ''वही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म है।'' इसे ही ब्रह्म कहते हैं।

''ब्रह्मशब्दः परे विष्णौ नान्यत्रक्वचिदिष्यते,

असंपुर्णाः परे यस्मादुपचारेण वा भवेत् ।''

अर्थात् ब्रह्म शब्द विष्णु में ही घटता है, किसी अन्य में नहीं, क्यों कि इनके अतिरिक्त सब अपूर्ण हैं, अतः उनके लिए गौण रूप से 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग होता है।

इस प्रकार मध्वाचार्य का ब्रह्म विष्णु ही है उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा सिद्ध हो जाता है, और उसी विष्णु की मध्व उपासना करते हैं।

विष्णुमेवानमन्देवा विष्णुम् भूतिमुपासते।

स एव सर्ववेदोक्तस्तद्रथो देह उच्यते॥

अर्थात् विष्णु से अनुप्राणित देवता विष्णु की उपासना करते हैं। वह विष्णु ही वेदों के प्रतिपाद्य तत्त्व हैं, मनुष्य के शरीर को उनका रब कहते हैं ऐसा स्कन्दपुराण का वचन है।

ब्रह्मशब्दानुगमाच्च अर्थात् ब्रह्म शब्द के अनुगम से भी उक्त बात पुष्ट होती है।

आचार्य मध्व भगवान् विष्णु को ही परब्रह्म मानते हैं। ईश्वर की आठ प्रकार की शक्तियाँ सृष्टि, स्थिति, प्रलय, नियन्त्रण, ज्ञान, तिरोधान, बंध, मोक्ष को पौराणिक साहित्य में त्रिदेव मानी गयी हैं, उन्हें विष्णु से सम्बद्ध मानते हैं। भिन्न-भिन्न प्रसंगों में स्थित विष्णु ही उन-सब शक्तियों को जाग्रत करके, एक ही महाशक्ति से सभी कुछ सम्बद्ध कर लेता है।[1] अन्य देवों में विद्यमान शक्तियाँ भी उन देवों की न होकर नारायण की है।[2]

अद्वैत-वेदान्त में विश्व, तेजस और प्राज्ञ आदि संज्ञाएं चित् तत्त्व के अज्ञानावच्छिन्न रूप की ही मानी गयी हैं, जब कि तैजसादिसंज्ञाओं को मध्व सभी गुणों के आगार ईश्वर के ही विविध नाम स्वीकार करते हैं। मध्व के

---

1 तत्र तत्र स्थितो विष्णुः तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन् ।
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमंजसा।। - ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.3.11

2 नैवराजन् रवेः शक्तिः शक्तिर्नारायणस्य - सा

अनुसार यह माया अथवा अविद्या कृत अवस्था नहीं है।[1] विष्णु की अन्य विशताओं को बतलाते हुए मध्व कहते हैं कि श्रेष्ठ शक्तियों एवं उत्कृष्ट गुणों से पूर्ण, सभी प्रकार के कष्टों के हर्त्ता, अविनश्वर कमलापति विष्णु ही सर्वाधिक पूज्य है।[2] कर्मों के आशय प्राणियों का प्रेरक तत्त्व यही है।[3] लक्ष्मी और जीव से ईश्वर की भिन्नता बताते हुए कहते हैं कि केवल ईश्वर ही ऐसा तत्त्व है, जो देश-काल और गुण तीनों दृष्टियो से असीम है। लक्ष्मी, जिसका दैत-मत में महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह देश और काल की दृष्टि से असीम होते हुए भी गुण की दृष्टि से सीमित हैं जीव तो देशकाल आदि सभी से परिच्छिन्न है। माध्वमतेव ईश्वर ही जगद्‌गुरू हैं, इसी कारण परम तथा पूर्णरूपेण शक्तिसम्पन्न है। देवता, जीव आदि अन्यतत्त्व उन्हीं के अधीन हैं। जिससे अधिक की कल्पना ही न की जा सके वही ईश्वर है।[4] अद्वैत मत में जीवन के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की मान्यता स्वीकार की गयी है। मध्व इसके विपरीत कहते हैं कि जीव ईश्वर के स्वरूप को जानने में असमर्थ है। ईश्वर स्वयं ही अपने आपको स्पष्ट करता हैं यह विचार मध्वाचार्य ने कठोपनिषद् से ग्रहण किया है, जिसमें कहा गया है कि जिस आत्मतत्त्व का यह साधक ज्ञेय रूप से वरण करता है, उस आत्मा के द्वारा ही उसका ज्ञान प्राप्त करता है। उस के प्रति आत्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देती है।[5] इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर अपने भक्त को अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करा देते हैं।

मध्वाचार्य के द्वैत-सिद्धान्त में ईश्वर को ज्ञेय माना गया हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारम्भ में ही मध्व ने कहा है कि ''**अनन्तगुणयुक्त, सर्वदोषविनिर्मुक्त, ज्ञेय एवं प्राप्य,** नारायण की वन्दना करके मैं सूत्र का व्याख्यान करता हूँ।'' मध्व ईश्वर को पूर्णता में नहीं अपितु अल्पमात्रा में ही ज्ञेय मानते हैं। जीव ब्रह्म के सम्पूर्ण स्वरूप को देखने में असमर्थ हैं। वह ईश्वर को

---

1 सविश्वतैजसप्राज्ञातुरीयात्मान्तरात्मनाम् ।
परमात्मज्ञानात्मयुजौ मद्रूपाणां च वाचकः।। (सर्वमूलान्तर्गत) तन्त्रसार 1/4

2 निजपूर्णसुखामितबोधतनुः परशक्तिरनतगुणः परमः।
अजरामरणः सकलर्तिहरः कमलापतिरीड्‌यतमोऽवतुनः।। 4/1

3 भिन्नकर्माशयप्राणिसम्प्रेरकं तन्न भिन्ते मण्डनम् । - द्वादशस्तोत्रम् 8/3

4 इदं इदमधिकं इतोऽपीदमिति सर्वाधिकत्वेन ततोऽधिकाभावेनापशेषितत्वे। -भाग.ता.नि. पृ. 61

5 ययैवेष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आतमा विवृणुते तनूं स्वाम्। -कठोपनिषद् 2/23

उतनी ही मात्रा में जान पाता है जितनी मात्रा में ईश्वर उसे अपना ज्ञान कराता है। जिस प्रकार से मेरू पर्वत को देखते हुए भी देखने वाला उसे पूरी तरह नहीं देख पाता अर्थात् पर्वत दृष्टिगोचर तो है, किन्तु सर्वाशतः नहीं उसी प्रकार ब्रह्म भी दृश्य अथवा ज्ञेय है, किन्तु सर्वाशतः नहीं।[1]

मध्वाचार्य ईश्वर के स्वरूप को अनिर्वचनीय नहीं मानते हैं जैसा कि शंकराचार्य मानते हैं। मध्वाचार्य कहते हैं कि अनिर्वचनीयता स्वयं में अप्रामाणिक है। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता क्या प्रत्यक्ष है? मिथ्या शब्द तो अभाव का ही वाचक है, अतः उसके आधार पर भी अनिर्वचनीयता असाध्य हैं। सत् से भिन्न, असत् से सर्वथा पृथक्-पृथक् 'सदसद्विलक्षण' कोई स्थिति नहीं होती है। 'असत्' नहीं है, यदि इस प्रकार प्रयोग करते हैं तब दो निषेधों के प्रयोग से प्रकृत अर्थ 'ब्रह्म' अतिशयता के साथ ज्ञात होगा कि 'सत्' ही होता है। ''सदसद्विलक्षणत्व'' की स्थिति ऐसी अवस्था में नहीं रहती हैं-

मध्व - **'अनिर्वचनीयासिद्धेः। न हि तत्र प्रत्यक्षमस्ति। मिथ्याशब्दत्वभाववाच्य एव। तदन्यत्र प्रमाणाभावात्। न चान्यत्प्रमाणम्। प्रतिज्ञाव्याहतेः। न हि सदेतरासतश्चान्यत्सदसद्विलक्षणं प्रसिद्धम् । आसन्न भवति द्वौ नञौ प्रकृतमर्थ सातिशयं गमयत इति सदेव भवति।** (कर्मनिर्णय, पृ0 250 (सर्वमूल))

उपनिषद् साहित्य में ब्रह्म के स्वरूप के विषम में, अत्यन्त विस्तार एवं सुस्पटता के साथ वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन किया गया है- सविशेष अथवा सगुण रूप तथा निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों भावों को प्रदश्रित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है- एक निर्विशेष दूसरा सविशेष्ज्ञ लिङ्ग। सविशेष लिङ्ग श्रुतियाँ सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि हैं। निर्विशेष लिङ्ग श्रुतियाँ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि हैं।[2]

इन वाक्यों की एक विशेषता यह भी है कि सविशेष ब्रह्म के लिए पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया जाता है यथा 'सर्वकर्मा' 'सर्वरसः' आदि, परन्तु निर्विशेष ब्रह्म के लिए नपुंसक लिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यथा

---

1 ब्रह्मसूत्रभाष्य 1.1.3

2 सन्ति उभयलिङ्गा श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वेकर्मेत्याद्या सविशेषलिङ्गाः अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गा। -शाङ्करभाष्य।

अस्थलम् 'अहृस्वम्' आदि। इसी कारण परब्रह्म 'तत्' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, 'सः' पद के द्वारा नहीं।

श्रुतिवाक्यों में इस प्रकार पार्थक्य होने पर भी 'तद् ' द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं हैं निर्विशेष तथा सविशेष श्रुतिया भाव-विभेद के सूचक हैं। परन्तु इनमें 'वस्तुगत विभेद' का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा निर्गुण, सोपाधि तथा निरूपाधि आदि शब्द एक ही 'ब्रह्म' तत्त्व के निर्देशक है। क्यों कि 'ब्रह्म' तत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियों ने एक ही मन्त्र में उभयलिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया है। मुण्डक-उपनिषद 1.1.6 में 'ब्रह्म' का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

यत्तद् अद्रेश्यमग्राह्मम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुः श्रोत्रम्, तद्अपाणिपादम् यहाँ ''निर्विशेष ब्रह्म'' का निर्देश है। 'नित्यं, विभुं, सर्वगतं, सुसूक्ष्मं, तदव्ययं तदभूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः- इसमें पुलिल्लङ्ग पदों से 'सविशेष ब्रहम' का निर्देश किया गया है।

इस प्रकार जब एक ही मंत्र उभयविध पदों के द्वारा 'ब्रह्मतत्त्व' का प्रतिपादन कर रहा है, तब निश्चय है कि उसमें किसी प्रकार का -वस्तुगतपार्थक्य' नहीं है। भाष्यकारों में इन उभयलिङ्ग वाक्यों को लेकर गहरा मतभेद है। आचार्य शङ्कर श्रुति को 'निर्गुणब्रह्म'' प्रतिपादक ही मानते हैं, परन्तु आचार्य रामानुज, मध्व आदि आचार्य उसे सगुण ब्रह्म प्रतिपादक ही स्वीकार करते हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परम तत्त्व' एक ही है तथा उसका ही वर्णन सगुण और निर्गुण रूपों किया जाता है।[1] सम्पूर्ण श्रुतियाँ ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ही प्रतिपादन करती है और सविशेष तथा निर्विशेष दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का 'ब्रह्म' के विषय में समान प्रमाण्य है।

ब्रह्म का सविशेषत्व - मध्व ने 'ब्रह्म' के रूप में 'सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर' को स्वीकार किया है, क्योंकि ईश्वर की मान्यता का दर्शन में महत्त्व स्थापित करने के लिए उसका मनुष्य से सीधा सम्बन्ध रखना अनिवार्य है। मध्व के साथ उनके अनुयायी भी ब्रह्म की अनन्तगुणयुक्तता को ही लक्षण मानते हैं।[2]

आचार्य मध्व अन्य वैष्णव आचार्यों की भाँति ब्रह्म को 'सविशेष' स्वीकार करते हैं। मध्वाचार्य 'सविशेष' को सिद्ध करने के लिए इसकी स्पष्ट

---

1 आचार्य बलदेव उपाध्याय- भारतीय दर्शन, पृ. 68

2 अनन्तगुणसत्त्वमेव ब्रह्मणो लक्षणम् । -न्यायसुधा, पृ. 101

व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ईश्वर अथवा ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, क्यों कि निर्विशेष कहा जा सकने वाला कोई तत्त्व प्रमाण प्रतिपन्न नहीं हो सकता यदि कहा जाए कि ब्रह्म निर्विशेष है, तो यह भी ब्रह्म का विशेषण ही हो गया। इस प्रकार निर्विशेषत्व स्वयं में भेदक तत्त्व हो गया जो उस तत्त्व को उन अन्य तत्त्वों से पृथक् करता है जिनमें विशेषत्व हैं। अतः व्यावर्तक होने के कारण निर्विशेषत्व स्वयं एक विशेषण हो जाता है।[1]

मध्व परमसत्ता के 'निर्विशेषत्व ' का तर्कमूलक खण्डन करने के पश्चात् उसके 'सविशेषत्व' को प्रमाणित करते हैं। मध्व यहाँ तक कह देते हैं कि निर्विशेष शब्द की स्वतः कोई प्रामाणिकता नहीं है। केवल अशेष और विशेष यही दो पद प्रयुक्त हो सकते हैं। साथ ही उपर्युक्त युक्ति भी 'निर्विशेष' पद की असारता प्रमाणित करती है।[2] इस प्रकार सविशेष ब्रह्म का ग्रहण अनुभवसिद्ध भी है, और युक्तिसंगत भी है।

ब्रह्म के वैशिष्ट्य प्रतिपादक विशेषण अलौकिक ही हैं, किन्तु जिन शब्दों से हम उनको व्यकत करते हैं, वे लौकिक हैं।[3] ये पद केवल उसकी ओर संकेत मात्र कर पाते हैं।

मध्व ईश्वर को अनन्तगुणों से परिपूर्ण मानते हैं।[4] न्याय के समान केवल छः गुणों अर्थात् श्री ऐश्वर्य, यश, ज्ञान, वीर्य तथा वैराग्य की मान्यता ही स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि ईश्वर के अनन्त गुणों में उपर्युक्त छः गुणो का भी अन्तर्भाव कर लेते हैं। 'श्वेताश्वतर उपनिषद' भी ईश्वर के गुणों को स्वाभाविक मानता है, आगन्तुक अथवा आकस्मिक नहीं स्वीकार करता है।[5] मध्व के समान उनके अनुयायी जयतीर्थ भी 'षाड्गुण्य' के सिद्धान्त के अनन्तगुणों का

---

1 न च निर्विशेषं नाम किंचिदस्ति। निर्विशेषत्वोक्तोरेव व्याहतत्वात्। निर्विशेषत्वेन विशिष्टं न वेत्युक्ते यद्यविशिष्टं तर्हि न विशेषनिराकरणम्। विशेषवत्वमेव भवति। यदि तेन विशिष्टं स एव विशेष इति व्याहतिः।। -कर्मनिर्णय, पृ. 250

2 न च निर्विशेषत्वे किञ्चन्मानम्। अशेषविशेषवचनानुभवयुक्ति - विशेषश्च। कर्मनिर्णय, पृ. 251

3 अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दैरेव भव्यते। "ज्ञापनार्थयलोकस्य यथा राजेव देवराट्" इति पद्ये लोकविलक्षणेव्यानन्दादौ तत्पदप्रयोगे युज्यते।।" तत्त्वप्रदीप 3.2.34

4 मायनन्तगुणेऽनन्ते ... भागवत् 6.4.48

5 शवेताश्वतर उपनिषद् 6/8

उपलक्षणमात्र स्वीकार करते है।[1] मध्व के अनुसार- ब्रह्म के अनेक विशेषण हैं तथा वे परस्पर अभिभाज्य हैं।[2] अनेक विशेषण स्वीकार करने के कारण ही ब्रह्म के सगुण रूप की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं - ''ब्रह्म समस्त दिव्य गुणों का आगार है। श्रुति कर्तृत्व, ईशितृत्व, नियामकत्व, उपास्यतत्त्व आदि धर्मों का विशुद्ध ब्रह्म में ही कथन करती है।''

''ॐ अन्यभावव्यावृत्तेश्च'' अर्थात् ''सूक्ष्म-स्थूल, अमध्यम-मध्यम, अव्यापक-व्यापक जो हरि है, वे आदि- अनादि अविश्व-विश्व, सगुण और निर्गुण हैं''। वे सूक्ष्म स्थूल रूप विश्व और अविश्व है, विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण उनका ऐश्वर्य व्यक्त होता है, और वे पुरुषोत्तम है।[3]

उपर्युक्त सूत्र से ब्रह्म के सगुणता-निर्गुणता आदि विरुद्ध धर्मों की सूचना मिलती है। मध्वाचार्य ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण रूप को परस्पर विरोधी स्वीकार नहीं करते। वे लौकिक का निषेध और अलौकिक का विधान करते हैं। आचार्य मध्व कहते है कि ब्रह्म के विषय में श्रुति जब धर्मों का निषेध करती है तब उसका तात्पर्य लौकिक धर्मो से होता है, दिव्य और अप्राकृत धर्मों से नहीं। रामानुज का भी यही मत है, वे भी अस्थूलादि वाक्यों में प्राकृत धर्मों का ही निषेध स्वीकार करते हैं।[4] श्रुति जब ब्रह्म को अशरीरी कहती है तो उसका तात्पर्य किसी भौतिक शरीर के अभाव से है, न कि शरीर रहित होने से। ईश्वर दिव्य शरीर धारण कर सकता है और उसके इस लीला विग्रह के अवयव भौतिक नहीं होते। मध्व अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्त्री एवं पुरुषादि रूप में वह परमात्मा देहवान् नहीं है, अपितु चैतन्य एवं आनन्द से ही उसका आकार निर्मित है।[5] अशरीरी न मानकर तथा सामान्य देहादि से भिन्न आकार को स्वीकार करने से जो, विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है उसे अनेक श्रुतियों के आधार पर मध्व ने समाहित किया है-

---

1 गुण्यमित्युपलक्षणं षाड्गुण्ये सर्वगुणान्तर्भाणोन।। -गीताभाष्यटीका 2/62

2 ''तानि सर्वाण्यन्योन्यानव्यरूपाणि'' गीताभाष्य 2/12

3 अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वोऽविश्व एव च।
विरूद्ध धर्मरूपोऽसावैश्वयति पुरूषोत्तमः।। इत्यादि ब्राह्मे

4 न च निर्गुणवाक्यविरोधः प्राकृतहेयगुणविषयत्वातेषाम् ।। - श्रीमद्धा. 1.1.1

5 न तस्य प्राकृता मूर्तिर्भासमेदोऽस्थि सम्भवा।
स्त्रीपुल्लिगाभियोगात्मा देहो विष्णोर्न जायते।। -बाराहसंहिता
किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखं नित्यं स्वकां तनुम् । वि0 तत्त्वनिर्णय

अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छन्दैरेव भण्यते।

ज्ञापनार्थय लोकस्य यथा राजेव देवराट् ॥ इति पद्ये

लोकविलक्षणेत्यानन्दादौ तत्पदप्रयोगोयुज्यते। तत्वप्रदीप 3.2.34

मध्व मत के विपरीत शांकर वेदान्त में ब्रह्म को 'निर्गुण' स्वीकार किया गया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में अनेक स्थानों पर शंकर ने ब्रह्म का स्वरूप बताया है - "वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तास्वभाव चित् एक एवं असंग हैं"[1] शंकराचार्य सगुण ब्रह्म को सर्वथा व्याङ्मय नहीं मानते, अपितु उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। साथ ही यह भी कहते हें कि उपनिषदों में जहाँ- जहाँ सगुण ब्रह्म का निर्देश है वहाँ उपासना के निमित्त ही उसका वर्णन है,[2] क्यों कि निर्गुण ब्रह्म उपासना का विषय नहीं हो सकता है।

ब्रह्मसूत्र एवं श्रुति में ब्रह्म को निमित्त एवं उपादान कारण कहा गया है, यह कारणता निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के साथ सम्भव नहीं है। इसी कारण अद्वैत मत में व्यावहारिक सत्ता की मान्यता स्वीकार की गयी हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म सगुण सविशेष तथा दिव्यशक्ति सम्पन्न है तथा वही सम्पूर्ण जगत् का शासक, उद्भावक, तथा जीवों की उपासना का विषय है।[3]

शंकराचार्य ने ईश्वर और ब्रह्म देनों पदों का प्रयोग आत्मतत्त्व के ही अर्थ में किया है, किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने ईश्वर पद का प्रयोग सगुण ब्रह्म के ही अर्थ में किया हैं। शंकराचार्य दोनों रूपों में अन्तर्विरोध नहीं मानते हैं। शंकराचार्य कहते हैं- दोनों का आधार एक ही चैतन्य तत्त्व है।[4]

मध्वाचार्य और उनके अनुयायी शांकरमत को परमसत्ताविषयक अवधारणा से सहमत नहीं हैं। मध्व के अनुसार ब्रह्म को निर्गुण मानने पर श्रुति-विरोध, कर्म निर्णय में अनेक उद्धरण द्वारा, प्रतिपादित किया गया है।[5] श्रुतियों

---

1 "नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन् असंगे।" ब्रह्मसूत्रभाष्य 1.1.2

2 स्वर्गमहिमप्रतिष्ठस्याव्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति,
सर्वगतत्वात् ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरतोपपत्तेः।। 1.1.3

3 "तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मणः उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वोव्यवहारः । 1.1.2

4 ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृ. 201

5 "तत्रैकाहुरगुर्ण ब्रह्मेति। न लद्युक्तम्। श्रुतियुक्तिविरोधात्। तथाहिश्रुति- सत्यं ज्ञानमनन्तब्रह्म। एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः। यो नः पिता जनिता नो विधाता।' कर्मनिर्णय, पृ. 240

में उसे सर्वज्ञ कहा गया है, तदर्थ कर्त्ता का होना आवश्यक है, कर्त्तत्व ब्रह्म में तभी सम्भव है, जब उसे सगुण मान लिया जाए।[1]

श्रुति में प्रतिपाद्य निर्गुण पद का भी निराकार या निर्विशेष अर्थ नहीं है अपितु त्रिगुणातीतऽत्र निस्त्रैगुण्यता यही अर्थ है। इस प्रकार निर्गुण श्रुतियों का सम्यक् अर्थ जान लेने के उपरान्त, सगुण के प्रति उनकी बाधकता समाप्त हो जाती है।[2] क्योंकि ये त्रिगुण सत्, रज, तम्, प्राकृत हैं, जबकि ब्रह्म प्रकृति के परे हैं। अनन्तगुणक ब्रह्मादि कहने का यही अभिप्राय है कि वह प्राकृत गुणों से रहित है। सगुण श्रुति वाक्यों का ग्रहण इसलिए भी और आवश्यक है, क्यों कि तर्कतः स्वतः सिद्ध है, जब कि निर्गुणता प्रतिपादक श्रुतिवाक्य परस्पर विरुद्धाभिधान पर आधारित है। परिणामतः सगुण श्रुतियों को निर्गुण का उपजीव्य मानना चाहिए।

व्यासतीर्थ ने ब्रह्म की सगुणता के प्रतिपादन हेतु अनेक आधार अनुमान के रूप में प्रस्तुत किए हैं- ब्रह्म की सत्ता बिना किसी निश्चित गुणों के सम्भव ही नहीं है, क्यों कि वह एक तत्त्व है, जो निषेध से सर्वथा भिन्न है। ब्रह्म में 'अविरोधित्व' नामक विशेषता है क्यों कि भ्रम का आश्रय है शुक्ति के समान। ब्रह्म में वेदान्त प्रतिपादित ज्ञान का विषय होने की विशेषता है, क्यों कि वह वेदान्त जिज्ञासा का विषय है, जो भी जिज्ञासा का विषय होता है, वह उक्त धर्म से मुक्त होता है। ब्रह्म में असाधारण एवं प्रतिष्ठित गुण हैं, क्यों कि उनकी प्राप्ति के प्रति इच्छुक होने पर वह वैसा कर सकता है, जो प्राप्ति में समर्थ और इच्छुक होता है वह इनको प्राप्त कर लेता है, जैसे कि मनुष्य। ब्रह्म सभी प्रकार के दोषों एवं दुर्गुणों से रहित है, क्योंकि वह उनसे रहित होने को इच्छुक एवं सक्षम हैं जो निरोध के लिए इच्छुक और सक्षम होता हैं वह ऐसा कर लेता है, जैसे कि मनुष्य।

उपर्युक्त सभी अनुमान ब्रह्म की सगुणता के लिए ही हैं। मध्वचार्य के अनुसार- ज्ञान सर्वदा सविशेष होता है, अतः उसके लिए किसी अर्थ को गुण विहीन रूप में ग्रहण कर पाना ही असम्भव है। इस प्रकार सभी अनुमान अन्ततः ईश्वर तत्व की सगुणता का ही प्रतिपादन करते हैं।

---

1 "बुद्धिपूर्वक सर्वकर्तृत्वात् सर्वज्ञत्वादयो गुणाः युक्ताः।" कर्मनिर्णय पृ. 250

2 "अतस्त्वन्निर्गुणत्वं नास्य तु स्याहि कादाचन।
तस्मात् त्रिगुशून्यत्वान्निर्गुणोऽव्ययमेव हि।" युक्तिमल्लिका, गुणसौरभ, 562

मध्वाचार्य सगुण-ब्रह्म का स्वरूप केवल व्यावहारिक-स्तर का नहीं मानते हैं, अपितु उसे परमार्थतः भी सिद्ध करते हैं। इनके अनुसार- विशेषण और विशेष्य का तभी सम्बन्ध हो सकता है, जब वे एक वर्ग के एवं वास्तव हों। विशेषया भले ही सत्तावान् हो, यदि वह अन्य अर्थ से सम्बद्ध है, तो वह अपने से भिन्न अर्थ के विशेषण के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता। उदाहरण स्वरूप रज्जु में भ्रमवशात् सर्प के गुणों का आरो पहो गया। इस प्रसंग में सर्प के गुण रज्जु के गुणों से पृथक् है। वे रज्जु से कथमपि सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं। इसलिए ब्रह्म ज्ञान का विषय तभी हो सकता है, जब वह सविशेष हो। वे विशेषण रज्जु में सर्पों के धर्मों की प्रतीति के समान मिथ्या नहीं होंगे।[1]

ब्रह्म जीव का अंशाशिभाव- ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करने के कारण ही मध्व ब्रह्म और जीव के बीच अंशाशिभाव स्वीकार करते हैं। गौपवनश्रुति से जीव की अंशता ज्ञात होती है - ''ये जीव अंश है, परमातमा अंशी है, वे अचल हरि स्वयं ही यह सब अंशों से करवाते हैं।[2]

ब्रह्म अंशी है, जीव अंश है, जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीवों का प्राकट्य होता है। ब्रह्म अपने अंश जीव का नियामक है, और शासक है, तथा जीव नियम्य और शासित। इस प्रकार मध्वाचार्य दोनों में भेद स्वीकार करते हुए अंशाशिभाव की व्याख्या करते हैं।

ब्रह्म का पंचभेद - मध्वाचार्य एवं उनके अनुयायी भेद की वास्तविक सत्ता मानते हुए, जगत् की सत्ता को किसी भी तर्क के आधार पर निराकृत करने योग्य नहीं मानते। जगत्, जीव एवं ईश्वर सभी तत्त्व सत्ता की दृष्टि से सत्य हैं। इसी पारस्परिक अन्तर को सूचित करने के लिए मध्व ने अपने ग्रन्थ ''महाभारततात्पर्य निर्णय'' में पंचभेदों का वर्णन किया है। विष्णु ही ईश्वर हैं। जगत् का प्रवाह यथार्थ है और वह जीव एवं ईश्वर, जीव एवं जीव, जड़ एवं ईश्वर, जड़ एवं जड़ तथा जड़ एवं जीव के वीच स्थित पंचभेदों से समन्वित है।[3]

---

1 डॉ0ए0के0नारायण- ए क्रिटीक ऑव मध्व रेफुटेशन ऑव वेदान्त, पृ. 228

2 अंशा एव हि इमे जीवा अंशी हि परमेश्वरः।
स्वयमशैरिदं सर्वं कारयेत्यचलो हरिः।।

3 जगतः प्रवाहः सत्योऽयं पंचभेद समन्वितः
जीवेश्योर् भिदा चैव जीव- भेदः परस्परम्
जड़ेशयोर जड़ानां च जड़-जीव-भिदा तथा

ब्रह्म का कर्त्तृत्व - वेदान्त दर्शन के सभी दार्शनिकों ने ब्रह्म के कर्तृत्त्व को स्वीकार किया हैं। उपनिषदों में ब्रह्म के कर्तृत्व का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है- **तदैसत, बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत** (छा. 6.2.3), **'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वा प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः''** (छा. 6.8.4), **'सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत** (तै0 2.6.1) **तत् सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य, सच्चत्यच्चाभवत** (तै0 2.6.1) **इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म को सृष्टि का कारण और कर्त्ता दोनों स्वीकार करती हैं।**

''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'' , स आत्मानं स्वयमकुरूत; तथा ''निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम् '' असंगो ह्ययं पुरुषः इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के कर्त्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों का ही प्रतिपादन होता हैं। इस स्थिति में दो विकल्प उत्पनन हो जाते हैं, या तो ब्रह्म को कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों का आश्रय माना जाय अथवा कर्तृत्व और अकर्तृत्व में से किसी एक को अस्वीकार किया जाए। **'स ऐक्षत' (ऐ. 1/1)** इस श्रुति से ब्रह्म 'ईक्षष' क्रिया का कर्त्ता ज्ञात होता हैं। यह ईक्षण क्रिया सर्वथा स्वतंत्र है, इसका प्रकृति आदि से सम्बन्ध नहीं है, परन्तु 'ईक्षा' आदि का कर्तृत्व निर्गुण परब्रह्म में ही सिद्ध होता है क्यों कि यदि ब्रह्म सगुण होगा तो मुमुक्षु जन प्राकृत गुणों के परिहार के लिए उसे उपास्य रूप से स्वीकार नहीं करते।[1]

मध्वाचार्य निर्गुण का अर्थ 'प्राकृतगुणरहित' स्वीकार करते हैं, निर्विशेष नहीं। मध्वाचार्य कहते हैं- जड़ प्रकृति तथा पराधीन जीव का कर्तृत्व सम्भव नहीं है यह कर्तृत्व ब्रह्म में ही सम्भव है। इसमें ब्रह्म का कोई स्वार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए क्यों कि ब्रह्म निरपेक्ष एवं स्वयंसिद्ध है। ब्रह्म अपने कर्तृत्व में **'कर्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कतर्त्तुम्**। का अधिकार रखता है। अर्थात् हर दृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र है। ब्रह्म इस सृष्टि का अनायास ही उद्भव, पालन और लय करता हैं। ऐसा करना किसी लौकिक कर्त्ता के लिए सम्भव नहीं है, अतः ब्रह्म का कर्तृत्व अलौकिक सिद्ध होता है।

पंचभेदा इमे नित्याः सर्वावस्थासु नित्यशः
मुक्तानां च न हीयन्ते तारतम्यं च सर्वदा। -महाभारत- तात्पर्य-निर्णय 69-71

1 यदि सगुणः स्यात् प्राकृतगुणपरिहारार्थं मुमुक्षुभिर्जगत्कर्ता नोपास्यः स्यात् पुत्रादिवत्। अतः ईक्षत्यादयो न सगुणधर्माः। -अणुभाष्य 1.1.6

ब्रह्म की निमित्तकारणता - आचार्य मध्व ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण स्वीकार करते है, उपादान कारण नहीं मानते । ईश्वर की इस कार्यरूप जगत् के प्रति कारणता ठीक उसी प्रकार है, जैसे पिता की पुत्र के प्रति होती है। जिस प्रकार एक पुत्र अपने पिता से अपनी सत्ता को ग्रहण करता है, उसीप्रकार सम्पूर्ण जगत् अन्ततः ईश्वर पर ही आश्रित है। इसीलिए ईश्वर सृष्टि की निर्मिति, संस्थिति एवं ध्वंस में कारण है। विश्व की ईश्वर के प्रति इसी पराधीनता को लक्ष्य करके ईश्वर को जगत् का कारण कहा गया है। जयतीर्थ के अनुसार- उपादान कारणत्व परिणामवाद से सम्बद्ध है।[1] उपादान कारण परिणामिक कारण होता है, और कार्य उसका परिणमन हैं। शंकराचार्य ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म जगत् का न केवल निमित्त कारण है अपितु उपादानकारण भी है। यह सृष्टि ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब नहीं अपितु साक्षात् परिणाम हैं। सृष्टि-इच्छा होने पर ब्रह्म ही इस विश्व के रूप में परिणमित होता हैं। वह अपने स्वरूपभूत धर्मों सत् चित् और आनन्द में न्यूनाधिक परिवर्तन कर जड़-जीवादि रूपों में अभिव्यक्त होता है, यह प्राकट्य प्रतीतिक अथवा औपाधिक नहीं अपितु स्वेच्छा जन्य और वास्तविक है। जिस प्रकार सुवर्ण कटक- कुण्डल आदि आभूषणों का रूप ग्रहण करता हैं उसी प्रकार ब्रह्म का जीव-जड़ादि रूपों में परिणाम होता हैं किन्तु इन परिणामों के होते हुए भी ब्रह्म के अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह नित्य- अपरिवर्तनशील और नित्य- अविकारी ही रहता है। इसलिए यह परिणाम सिद्धान्त (अविकृत-परिणामवाद) के नाम से जाना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार - परिणाम का अर्थ विकारापत्ति नहीं है अपितु ब्रह्म-स्वरूप के प्राकट्य को ही परिणाम की संज्ञा दी जाती है।[2] ब्रह्म के स्वरूप में कोई परिवर्तन इसलिए सम्भव नहीं है, क्यों कि उसका स्वरूप उत्पाद्य, विकार्य अथवा संस्कार्य नहीं हैं। उत्पाद्य वस्तु सर्वदा अनित्य होती है जैसा कि घट आदि के प्रसंग में देखा जाता है, उत्पाद्य मानने पर उसमें अनित्यत्व की प्रसक्ति होगी। ब्रह्म विकार्य भी नहीं है, अवस्थान्तर को प्राप्त होना विकार्यत्व है। विकार्य वस्तुएं भी अनित्य होती है। इसी प्रकार ब्रह्म संस्कार्य भी नहीं हो सकता है, किसी वस्तु में गुणों का आधान और दोषों का अपावर्तन करने से उसका संस्कार होता है। ब्रह्म के कूटस्थ होने के कारण उसमें किसी प्रकार का अतिशय

---

1 परिणामि कारणं हि उपादानमुच्यते। - न्यायसुधा पृ. 94

2 'तत्र यथास्थितप्राकट्यस्यैव परिणामत्वेन विवक्षितत्वात्।। -अणुभाष्य 2.3.96

नहीं लाया जा सकता नित्य शुद्ध होने के कारण उसमें कोई दोष भी नहीं है, जिसे दूर करने का यत्न किया जाए। जो ब्रह्म उत्पाद्य, विकार्य और संस्कार्य में से कुछ भी नहीं है उसमें विकारापत्ति के लिए अवकाश ही नहीं है।

मध्वाचार्य उपादान कारण 'प्रकृति' को मानते हैं, यदि जगत् में निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही होते तो घट का निमित्तकारण कुम्भकार एवं उपादानकारण मृत्तिका एकरूप हो जाते । हमारे सामान्य अनुभव से ही ज्ञात हो जाता है कि कुम्भकार एवं मृत्तिका एक नहीं हो सकते हैं, दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है; चैतन्य और जड़ का एकरूप होना असम्भव है। मध्व कहते है कि उपादान कारण के गुण कार्य में संक्रमित होते हैं। ब्रह्म के चैतन्य आदि गुणों की स्थिति जगत् में भी होनी चाहिए, किन्तु जगत् की जड़ता यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है, कि ब्रह्म या ईश्वर को केवल निमित्त कारण माना जा सकता है, उपादान कारण नहीं। उक्त तथ्य स्वीकार कर लेने के पश्चात् मध्व का कथन ग्राह्य हो जाता है, कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति, संहारादि के नियमन में समर्थ है।[1] ईश्वर का जगत् में परिवर्तन पिता के पुत्र के रूप में परिवर्तित होने के समान है।[2]

आचार्य मध्व ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हुए एक अन्य उदाहरण देते हैं कि ईश्वर राजादि के समान नियामक न होकर जगत् को सत्ता प्रदान करने वाला तत्त्व है।[3] यह जगत् में व्याप्त भी है तथा उससे परे भी है, क्यों कि वह जगत् का निमित्त कारण हैं। ब्रह्म ही सभी जीवों का आधार है तथा वही सम्पूर्ण वेदों एवं शास्त्रों का अर्थभूत है।

मध्व के ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा- मध्व के अनुसार ईश्वर तत्त्व की व्याख्या के पश्चात् अब हम मध्व के स्वीकृत 'द्वैत' के स्वरूप पर विचार करेंगे। मध्वाचार्य जीव का स्वरूप ईश्वर से भिन्न मानने के कारण ही द्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। श्रुति भी जीव और ब्रह्म के भेद को स्वीकार करती हैं। श्रुतियों के आधार पर ही ज्ञात होता है कि ब्रह्म महत्त्म और उच्चतम् है, कोई एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोच सकता है कि वह ब्रह्म से एकरूप है। कोई यह भी अनुभव नहीं करता कि मैं सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्वशक्तिमान हूँ मैं

1 "सृष्टि स्थिति संहार नियमनज्ञानाबन्धमोक्षाः यतः। " पूर्णयज्ञ भाष्य, पृ. 6

2 जयतीर्थ- तत्वप्रकाशिका, पृ. 8

3 आधारः सर्वभूतानां येन विष्णु प्रसादितः।। - सर्वमूलान्तर्गत

समस्त दुःखों व दोषों से रहित हूँ। हमारा सामान्य अनुभव इसके ठीक विरोध में है, तथा वह अनुभव असत्य नहीं हो सकता हैं क्यों कि उसकी असत्यता का कोई प्रमाण नहीं है।

द्वैत-सिद्धान्त के कट्टर समर्थक होने के कारण मध्व अद्वैत-स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, जिससे उपाधियों की मान्यता को भी नहीं मानते हैं। 'उपाधिखण्डनम् '' नामक ग्रन्थ में मध्व ने इसका विस्तार से खण्डन किया है। उपाधि पहले से स्थित भेद की ज्ञापकमात्र है, कारक नहीं है।[1] माया एवं उपाधि, यदि निर्माण की क्षमता नहीं रखती, केवल सीमित करने की ही उनकी शक्ति है, तब ईश्वर के आभास की सृष्टि भी उनका कार्य नहीं हो सकता। मध्व के अनुसार ईश्वर की सर्वज्ञता एवं सर्वव्यापकता आदि में तथा उसकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं है। जब कि शंकर ईश्वर की सत्ता और उसके गुण दोनों को औपाधिक मानते हैं। यदि ब्रह्म के सभी गुण औपाधिक हैं, तो 'सत्ता' भी उसका गुण ही है, उसे भी औपाधिक मानना होगा।[2] औपाधिक तत्त्व आभासजन्य होते हैं, न कि वास्तव। अतः ब्रह्म भी वास्तव नहीं रह सकेगा।

मध्व ने ईश्वर के जिस स्वरूप की स्थिति प्रतिपादित की है, और उसके प्रतिपादन में जिन तर्कों का उपयोग किया है वे तर्क पाश्चात्य दर्शन शास्त्रियों के द्वारा भी प्रयुक्त किये गए हैं। 'ईश्वर को जगत् का कारण माना गया है। जड़ तत्त्व कार्यस्वरूप है। उसका कोई न कोई कारण होना वाहिए, जिसका कोई अन्य कारण न खोजना पड़े। ईश्वर ही ऐसा कारण हो सकता है कि उसके कारण के रूप में किसी कल्पना का स्थान नहीं है।

मध्व ने ''जन्माद्यस्य यतः'' शास्त्रयोनित्वात् सूत्र के व्याख्यान में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं- कि जिससे ये सारा भूत समुदाय प्रकट होता है, जिससे उत्पन्न होकर जीवित है, प्रलय होने पर जिसमें समा जाता है, उसे ही जानों वही ब्रह्म है।[3] जो कि अपने एक चरण से पृथ्वी और तीन चरणों से आकाश में व्याप्त है, समस्त भुवनों सहित विश्व का आधार है, चौरान्वे नामों से वह हमारे चारों ओर व्याप्त होकर स्थित है। ''उनकी कलाओं से उत्पन्न ये देवता उसके महत्त्व को नहीं जान सकते'' ''हे विष्णु आप की महिमा को कोई

---

1 'विद्यमानस्य भेदस्य ज्ञापको नैव कारकः। -उपाधिखण्डन, पृ. 3

2 व्यासतीर्थ- न्यायामृत, पृ. 489

3 उत्पत्तिस्थितिसंहारनियति र्ज्ञानमावृत्तिः।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यस्मात् क हरिरेकराट् ।। - पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 10

पा नहीं सकता।'' जो हमारा पिता, माता, विधाता है उसे ही सारे भुवनों और विश्व का आधार जाने। वेद को न जानने वाले, उस महान् सर्वव्याप्त भूमा स्वरूप ब्रह्म को, गणेषणा से नहीं जान सकते वह उपनिषद से ही जानने योग्य हैं इत्यादि श्रुतियाँ उसे वेद से ही ज्ञेय कहती है।

'भागवत पुराण' में भी कहा गया है - कि यही वह सत्ता है जो सभी की उत्पत्ति, स्थिति और प्रसंग का कारण है, यही वह सत्ता है जो सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में समरूप रहती है, यही वह सत्ता है जो शरीर, इन्द्रियों और मन को सजीवता प्रदान करती है,और फिर भी स्वयं में किसी कारण से रहित है। वह न जन्म लेती है, न विकसित होती है, न क्षीण होती है, न मरती है, फिर भी वह एक स्थिर तत्त्व के रूप में शुद्ध चैतन्य के रूप में सर्व परिवर्तनों की अध्यक्षता करती है, और सुषुप्ति में भी जब कि समस्त इन्द्रियों का परिचालन रूक जाता है, उसका अपना एक रस अनुभव समरूप बना रहता है।

इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता का स्वरूप इस तथ्य में निहित है कि वह परमानन्द रूप है, सभी इच्छाओं का चरम लक्ष्य है,और नित्य हैं, यही परम नित्य सत्ता सर्व वेदान्तोपदेशों का अंर्तविषय है।

पंचम अध्याय

जीव का स्वरूप

''परम तत्त्व सूर्य के सदृश है तथा 'जीव' उसमें से प्रस्फुटित किरणों के समान हैं। भगवान् में अपने मूल से वे प्रस्फुटित हुए हैं और यद्यपि वे उससे स्वतंत्र प्रतीत होते हैं तथापि उस पर पूर्णरूपेण आश्रित रहते हैं।'' प्रत्येक महाप्रलय के उपरान्त ईश्वर जीव को उसकी वासना और कर्म की पूर्ति के लिए सामने लाते हैं। ईश्वर का यह कार्य अपने किसी निमित्त के लिए न होकर निर्नैभित्तिक है। अतः सृष्टि जीव के कर्मभोग का अनिवार्य माध्यम है। इसमें से होकर वह अपनी श्रेयस्कारी अवस्था को प्राप्त करता है। चित् तत्त्व से युक्त जीवात्मा की मान्यता अत्यन्त प्राचीनकाल से ही उपलब्ध हैं। उसे शरीरेन्द्रिय बुद्धि आदि से अभिन्न एवं भिन्न भी माना गया हैं। इसी कारण ईश्वर और जीव परस्पर अत्यन्त भिन्न प्रतीत होने पर भी इनके बीच एक अटूट सम्बन्ध है, एकात्मता है और एकात्मता के इस सिद्धान्त के अन्वेषण में ही दार्शनिक अनुशीलन की कृतार्थता हैं। यह सम्बन्ध या, यह एकात्मता किस रूप की है यही बात विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के रूपाकार और उनकी पारस्परिक भिन्नता की नियामिका हैं। विभिन्न आचार्यो द्वारा प्रतिपादित जीव के स्वरूप में आधारभूत समानताएं होने पर भी कुछ मौलिक अन्तर है जिनसे उनके सिद्धान्तों का स्वरूप निर्मित और नियमित होता है।

भारतीय चिन्तन इस विवाद में न पड़कर आत्म तत्त्व की सिद्धि स्वीकार करके, उसके स्वरूप, पारस्परिक भेद, उसकी नियामिका शक्ति, जगत् से सम्बन्ध आदि विषयों का व्याख्यान प्रारम्भ कर देते हैं। मध्व ने भी इसी क्रम में अपने विचार व्यक्त किये हैं। मध्वाचार्य कहते है- जीव ब्रह्म का स्वरूप है, अतः वह ब्रह्म की ही भाँति सत्य और नित्य है। ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति नहीं होती है, बल्कि ब्रह्म से जीव का प्राकट्य होता है, जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिगों की होती है। ब्रह्म के विषय में उत्पत्ति का अर्थ इच्छा प्राकट्य होता है और जीव के विषय में उत्पतित का अर्थ आविर्भाव होता हैं। जीव नित्य है, परन्तु आनन्द का तिरोभाव होने के कारण परिछिन्न है।

मध्वाचार्य कहते हैं कि जीव ब्रह्म के अधीन अवश्य है किन्तु उससे सर्वथा भिन्न है। जीव की स्थिति संवेद्य है, मात्र तर्क ग्राह्य नहीं। 'अहं प्रत्यय' ही उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।[1] मध्व के अनुसार जीव और अहंकार अभिन्न हैं। आत्मा का सम्बन्ध हमेशा अहंकार से बना रहता है। अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई स्थिति नहीं है जहाँ जीव अहं प्रत्यय से मुक्त हो। अहम् आत्मा से अविभाज्य हैं। अहंकार के वास्तव तथा अभिन्न होने के उपरान्त ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की वास्तविकता की सिद्धि सम्भव है। यही अहंकार जीव को अन्य सभी तत्त्वों से पृथक् करता है।

जीव की चिद्रूपता - चैतन्य जीव का स्वाभाविक धर्म हैं वह न तो आकस्मिक है, और न ही परिणाभूत। मध्व के अनुसार-चैतन्य धर्म अथवा गुण है। इससे जीव के स्वरूप तथा चैतन्य में धर्म धर्मिभाव के आधार पर कोई भिन्नता नहीं आती, क्योंकि इस मत में गुण को भी वस्तु का स्वरूप ही माना गया है। अतः मध्वमत में स्वीकृत जीवात्मा का चेतन होना उसका स्वरूप ही है। तथा यह चेतना गुण भी है। इस प्रकार चेतना के गुण होते हुए स्वरूपतः स्थिति होने से किसी विरोध पूर्ण स्थिति का प्रसंग नहीं रहता हैं। विरोध तब उत्पन्न होता है जब मूलतः जीव को हम निर्विरोध मानें, चैतन्य को गुण तथा गुण एवं गुणी को सर्वथा भिन्न मानें। यह मध्वमत सम्मत नहीं है।

चैतन्यात्मकता की दृष्टि से विचार करने पर ईश्वर और जीव में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु जीव की स्वाप्रकाशकता ईश्वराधीन है। यह केवल ज्ञानस्वरूप ही नहीं, अपितु ज्ञातृस्वरूप भी हैं। मध्व कहते हैं - आत्मा की स्वप्रकाशकता निर्विवाद है। अहं प्रत्यय का अनुभव इसकी स्वप्रकाशकता का आधार है।

शंकर जीव को चैतन्यस्वरूप तो मानते हैं किन्तु चैतन्यधर्मक नहीं मानते हैं। इसका कारण उनकी ब्रह्म सम्बन्धी धारणा है। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूप हैं, गुण नहीं हैं उनका ब्रह्म सन्मात्र, चिन्मात्र, तथा आनन्दमात्र है, सत्ताशाली, सर्वज्ञ और आनन्द प्रचुर नहीं, इसीलिए वे 'आनन्दमय' के ब्रह्मत्व का भी निषेध करते हैं। शंकर के ब्रह्म और उसके चैतन्य में गुण-गुणी सम्बन्ध नहीं । यह शुद्ध ब्रह्म ही अविद्योपाधि के संगर्ग से जीव-भाव से

---

1 मध्वाचार्य- अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः।। -विष्णुतत्त्व निर्णय, पृ. 26

अवस्थित होता है। अतः जीव भी चैतन्यरूप ही होगा, चैतन्यधर्मक नहीं हो सकता।[1] इसके विपरीत मध्व परम वस्तु को सविशेष स्वीकार करते हैं, शंकर की भाँति निर्विशेष नहीं। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूपभूत धर्म हैं तथा ब्रह्म और इनके बीच धर्म-धर्मी का भी सम्बन्ध हैं। ब्रह्म सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र ही नहीं है, अपितु सत्ताशसी, सर्वज्ञ और आनन्दी हैं। इसी के आधार पर मध्व ने 'आनन्दमय' को परब्रह्म सिद्ध किया हैं। जीव ब्रह्म का अंश है अतः ब्रह्म का मौलिक स्वभाव उसमें भी अनुवर्तित होता है, इसलिए ब्रह्म की भाँति जीव भी चैतन्यस्वरूप और चैतन्य धर्मक दोनों ही है।

माध्वमत में जीवातमा का अपना वैशिष्ट्य स्वीकार किया गया हैं यही कारण है कि मध्व बन्धावस्था में आवृत्त चिदंश को ज्ञेय मानते हैं। आत्मा यदि स्वयं भासमान है निर्विशेष है तो वह किसी प्रकार के अज्ञान से आवृत्त नहीं होगा। जब वस्तु स्वयं भासित है। तब अज्ञान किसको आवृत्त करेगा।

निर्विशेषे स्वयं माते किमज्ञानावृतं भवेत् ।

स्वरूपस्य सिद्धत्वात् विशेषाभावाच्च ना ज्ञानं कस्यचिदावरकम् ।

-मायावादखण्डनम्, पृ0 12

इस प्रकार मध्वाचार्य के जीव की चिद्रूपता की व्याख्या के पश्चात् प्रमुख तथ्य के रूप में दृष्टिगोचर होता है कि चैतन्य जीव का स्वरूपभूत धर्म है अतः उसे जीव का स्वरूप भी कहा गया है और स्वरूपभूत गुण भी। इस मान्यता के कारण मध्व का सिद्धान्त न्याय और सांख्य से पर्याप्त भिन्न हो जाता हैं। न्याय के अनुसार जीव चैतन्य धर्मक है और सांख्य के अनुसार चैतन्यस्वरूप हैं। मध्व जीव को केवल 'चैतन्यधर्मक' या केवल 'चैतन्यस्वरूप' नहीं स्वीकार करते, अपितु दोनों ही मानते हैं। इस प्रकार जीव नित्य चैतन्य स्वरूप है।

जीव की नित्यता - जीव की सत्ता ईश्वर से ही है। जीव के कारण ईश्वर को मान लेने के बाद जीव की नित्यता के विषय में सन्देह उठना स्वाभाविक है। जयतीर्थ के अनुसार जीव को प्रतिबिम्ब मानने के बाद भी वह अनादि एवं नित्य है। मध्व के अनुसार जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों

---

1 .... ''परस्य हि ब्रह्मणः चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नात विज्ञानमानन्दं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं बह्म, ''अनन्तरो ब्रह्मः कृत्स्नः प्रज्ञानधन एव' इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परब्रह्म जीवः, तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्व-मग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। शा.मा. 2.3.18

मिथ्या नहीं हैं। जीवात्मा का ज्ञातृत्व भी इसी प्रकार ईश्वर के अनन्त ज्ञान से भिन्न तथा निश्चित है। ज्ञान का आश्रय होने के कारण जीव को, इस मत में अज्ञान का भी आश्रय माना गया है।[1] ज्रीव आत्यन्तिक सत्तावान् है। इसकी नित्यता श्रुति प्रतिपाद्य है।[2]

परमात्मा और जीव दोनों को नित्य कहा गया है, इसका उदाहरण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। मध्वाचार्य इस कथन की स्पष्ट व्याख्या 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' में इस प्रकार करते हैं- **''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां' स नित्यो निर्गुणो विभुः परः परमात्मा 'नित्यो विभु कारणो लोकसाक्षी परो गुणः सर्वदृक् शाश्वतश्च' इत्यादि श्रुतिभ्यो नित्यत्वाच्च।**

अर्थात् ''वह नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन है'' वह नित्य, निर्गुण, विभु, परात्पर आत्मा है, वह नित्य, विभु, कारण, लोक साक्षी, गुणों से पर, सर्वदृष्टा, शाश्वत है, इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा की नित्यता प्रमाणित होती है।

जीव की नित्यता के सम्बन्ध में कहते हैं-

''नित्यो नित्यानाम् ''इति जीवस्यापि नित्यत्वमुक्तम्'' सर्व एते-चिदात्मनो व्युच्चरन्ति इत्युत्पत्तिरूच्यते। अतो विरोध इत्यत आह-

अर्थात् 'नित्यो का नित्य' इस श्रुति में तो जीव की नित्यता का भी उल्लेख है ''इस चिदात्मा में सब संचालित होते हैं'' ऐसी जीवात्मा सम्बन्धी व्युत्पत्ति भी की गयी है।

इन दोनों कथनों से परमात्मा और जीव की नित्यता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है, मध्व कहते हैं जीव भी नित्य इसलिए है कि वह परमेश्वर से ही प्रकट हुआ हैं। वेद से ही ऐसा निश्चित होता है- ये सारे चैतन्य आत्मा जो कभी नष्ट नहीं होते, परम् ज्योति में प्रविष्ट हो जाते हैं और बिना नष्ट हुए यथावत् उत्पन्न हो जाते हैं, कभी नष्ट नहीं होते। ऐसी 'काषायण श्रुति' है।

इस प्रकार जीव की नित्यता के सम्बन्ध में मध्वाचार्य के समान शंकर, वल्लभ, भास्कर, रामानुज सभी ऐकमत्य हैं। ये सभी दार्शनिक जीव को नित्य स्वीकार करते हैं। जीव की इस नित्यता से एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा में कोई बाधा नहीं पहुँचती है, क्यों कि जीव और ब्रह्म में कोई तात्त्विक अन्तर

---

1 ऑन आउट आफ मध्व फिलॉसफी- डा. के नारायण पृ. 146

2 ''नित्यो नित्यानामिति जीवस्य नित्यत्वमुक्तम् ।'' पृ. 83 ब्र.सू. मध्व भाष्य

नहीं है। अतः जीव के नित्य एवं सत्य होने पर अद्वितीयश्रुति का विरोध नहीं होता क्यों कि जीव-ब्रह्म विभाग अनादि नहीं हैं। यदि हम जीव-भाव को अनादि स्वीकार कर लेते हैं तो ब्रह्म के अद्वितीयत्व का विरोध उत्पन्न हो जाएगा। अतः जीव-भाव को आदि ही स्वीकार करना चाहिए।

जीव का अणु परिमाण - मध्व जीव को अणुपरिमाण स्वीकार करते हैं। प्रसरणशील चैतन्य के कारण ही वह सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है। जैसे दीप का प्रकाश पूरे कक्ष को आलोकित करता है, वैसे ही जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं अपने वैशिष्ट्य के कारण वह ऐसा करने में समर्थ है।[1]

न्यायवैशेषिक, मीमांसा, सांख्य-योग तथा अद्वैत वेदान्त मतानुयायी विचारक विभु परिमाणवादी, जैन मध्यम परिमाणवादी, वैष्णवमत अणुपरिमाणवादी है।[2] शंकराचार्य जीव के महत् परिमाण को स्वीकार करते हैं, क्यों कि यदि ब्रह्म ही उपाधि-सम्पर्क से जीवरूप में स्थित होता हैं तो जो परिमाण ब्रह्म का है, वही जीव का भी होना चाहिए। परब्रह्म महत् परिमाण वालाहै, अतः जीव भी महत् परिमाण वाला है। शंकराचार्य के इस कथन से **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदित्य'** यह श्रुति जीव को अणुपरिमाण वाला कहती है, यह असंगत हो जाएगी।

शंकराचार्य इस समस्या का समाधान इस प्रकार करते हैं कि जीव का अणुत्व-व्यपदेश उपाधि-सम्पर्क के कारण है। बुद्धि-उपाधि के इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि जो गुण हैं वे ही जीव के संसारित्व में कारण है। बुद्धिधर्मो से स्वयं को एकात्म कर लेने के कारण बुद्धि के परिणाम का ही जीव में व्यपदेश होता हैं। अतः जीव का अणुत्व उपाधि-सम्बन्ध से होने के कारण औपचारिक है, और महत्परिमाण ही वास्तविक है।

मध्वाचार्य, शंकर के विचार से सहमत नहीं है, मध्व कहते हैं, श्रुतियों में जीव को संसरण करने वाला माना गया है। यदि उसे महत् परिमाण का मानते हैं तो फिर इन श्रुतियों के विरुद्ध जीव का स्वरूप ग्रहण करना होगा। इसलिए अणुपरिमाण ही मानना उचित है।[3]

---

1 डॉ. एस.एन.दास गुप्ता- ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी, भाग 4, पृष्ठ 146

2 डॉ. के. नारायण- एन आउट लाइन ऑव मध्व फिलासफी, पृ. 156

3 तत्त्वप्रकाशिका, पृ. 115

जीव को अणु-परिमाण स्वीकार करने पर यह समस्या आती है कि अणु-परिमाण वाले जीव के चैतन्य की उपलब्धि समस्त शरीर में नहीं हो सकती, इसलिए जीव को विभु-परिमाण ही स्वीकार करना पड़ेगा, विभुपरिमाणशाली जीव का स्वरूप ही चैतन्य है, जैसे अग्नि का स्वरूप औष्ण्य और प्रकाश है।[1]

आचार्य मध्व कहते हैं- अणु होते हुए जीव के चैतन्य की सकलशरीरगत उपलब्धि में कोई अनुपपत्ति नहीं हैं **''अविरोधश्चन्दनवत्''** सूत्र के माध्यम से इस समस्या का समाधान करते हैं- जीव अणु होते हुए भी समस्त शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार मलयागिरि चन्दन की एक बिन्दु शरीर के किसी एक स्थान पर लगाते ही सारे शरीर को शीतल और सुगन्धित कर देती है। ब्रह्माण्डपुराण भी, ऐसा ही कहते हैं- यह जीव अणुमात्र होते हुए भी अपने देह में व्यापक रूप से रहता है जैसे कि- मलयागिरि चन्दन की एक विन्दु पूरे शरीर को व्यापक रूप से आप्लावित करती है।[2]

मध्वाचार्य एक अन्य समस्या का समाधान जो स्थान विशेष से सम्बन्धित है, इस प्रकार करते हैं-

'ॐ अवस्थितिवैशेष्यादिति चेत्राभ्युपगमाद् हृदि हि' अर्थात् चन्दन तो किसी स्थान विशेष पर लगाने पर सम्पूर्ण शरीर को आप्लावित करता है, किन्तु जीव की स्थिति ऐसी नहीं है, यह नहीं सोचना चाहिए। **''हृदिह्येष आत्मा''** श्रुति से जीव को भी स्थान-विशेष में स्थिति का उल्लेख है।

रामानुज भी जीव को अणु-परिमाण का ही स्वीकार करते हैं। इस अणुत्व को वे जीव का सहज और स्वाभाविक परिमाण मानते हैं, इस विषय में उनके विचार मध्व के समान ही है।[3] भास्कर भी जीव को अणुपरिमाण स्वीकार करते हैं, तथा अणु स्वीकार करते हुए भी उसके चैतन्य की सकलदेहवर्ती वेदना स्वीकार करते हैं, चन्दन, मणिप्रभा अथवा पुष्पगन्ध की भाँति।[4]

---

1 दृष्टव्य- शां.आ. 2.3.39

2 मध्व- अणुमात्रोऽव्ययं जीवः स्वदेहं व्याव्य तिष्ठति।
यथा व्याप्यशरीराणि हरिचन्दन- विप्नुषः।। - ब्र.सू.मा. 2.3.3-5

3 श्री भा. 2.3.20, 2.3.22, 2.3.23, 2.3.26 इत्यादि।

4 डॉ. राज लक्ष्मी वर्मा - आचार्य वल्लभ और उनका दर्शन, पृ. 126

इस प्रकार जीव के परिमाण का व्याख्यान अत्यन्त विस्तृत है, परन्तु संक्षिप्त रूप से व्याख्या करने के बाद यही मुख्य तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि जीव का यह चैतन्य, गंध की भाँति प्रसरणशील है। इसी कारण जीव के अणु परिमाण होते हुए भी चैतन्य के सकल शरीर में व्याप्त होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

जीव की साकारता- मध्वोत्तर साहित्य में जीव की साकारता पर बहुत बल दिया गया हैं। आकार के बिना किसी वस्तु की कल्पना करना असम्भव है। जिस प्रकार अणु का भी आकार होता है वैसे ही जीवात्मा का भी आकार है। अणु- आकार की स्थिति जिस प्रकार से अनादि है वैसे ही जीव का आकार अनादि है।[1] जीव के स्वरूप में साकारता तो है ही।[2]

आत्माप्रकाशी तत्त्व कोई न कोई आकार अवश्य लिए रहता है- जैसे दीप की ज्योति। वैसे ही जीव की आत्मप्रकाशकता के लिए आकार का होना अपरिहार्य है। यदि जीव का आकार न माना गया तो श्रुति प्रतिपाद्य यह तथ्य भी व्यर्थ हो जाएगा कि वाह्य-देह के न रहने पर भी जीव आनन्द भोग करता हैं। आनन्द भोग करने के लिए माध्यम की साकारता नितान्त अपेक्षित है। जिस प्रकार से कंचुक ही शरीर का आच्छादन कर पाता है, उससे भिन्न कोई वस्तु इसमें समर्थ नहीं वैसे ही हस्त-पादादि-युक्त देह के अभाव में जीव की स्थिति की कल्पना असम्भव हैं। हस्तपादादि का जीव के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है।[3]

जो भी सत्तात्मक पदार्थ हैं वे चेतनाचेतनत्वेन अभिव्यक्त है। जीव का स्वाभाविक रूप उसका आकार है, अर्थात् देह है यदि देह को स्वीकार न किया जाए तो देहों का आनुक्रमिक विकास कारण विहीन हो जायेगा। यदि जीव को साकार नहीं माना गया तो सृष्टि की निर्मिति में घटादि को भी वह आकार क्यों नहीं मिला जो जीव के शरीर को मिला? आकारत्व विशेष की कल्पना के बिना जीव और उसके आकार के स्वाभाविक सम्बन्ध माने, सम्भव नहीं हैं अतः जीव

---

1 वादिराजतीर्थ- अणूनामणुराकारो यथा नित्योऽस्यनादितः।
ज्योतिर्मया तथा जीवास्साकारा सन्तु सन्ततम् ।। मुक्तिमल्लिका पृ. 26

2 वादिराजतीर्थ - सुख ज्योतिस्वरूपात्मरचितां साकारतां स्तुमः।। पृ. 26

3 वादिराजतीर्थ - कञ्चुके तनुच्छायान त्वकञ्चुकवाससि।
ततस्वाभाविका भावे न स्युरौपाषिका अपि।। मुक्तिमल्लिका पृ. 255

वैभिन्नय तथा जीव को मानने के साथ ही उसके विशिष्ट स्वरूप को भी मानना अनिवार्य है और इसीलिए जीव साकार है।[1]

जीवबहुत्व- जीव के बहुत्व को सांख्य ने जिन आधारों पर स्वीकार किया है, मध्व सांख्य के उस मत को स्वीकार नहीं करते हैं।

ईश्वरकृष्ण- जननमरणकरणानां नियमादयुगपत-प्रवृततेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव'' (सांख्यकारिका 18)

मध्व के अनुसार- यद्यपि कर्मसिद्धान्त जीवों के बाहुल्य का समर्थक है, तथापि अनादि-कर्म-परम्परा यह बतलाने में असमर्थ है कि कोई आत्मा अच्छी या बुरी क्यो है यदि सभी आत्माओं में परस्पर विभेद नहीं है, तब अनादि की स्थिति सभी के साथ एक जैसी होने के बाद, इनमें यह भेद कहाँ से आ गया? अतः इस अन्तर के आधार को जीवात्मा के स्वरूप में ही खोजना होगा।

इस प्रकार जीव-भेद की धारणा सांख्य के समान भौतिक उपकरणों पर आधारित न होकर कोई आत्यन्तिक आधार पर आधारित होना अधिक श्रेयस्कर हैं। इसी कारण मध्व विशेष नामक तत्त्व को स्वीकार करके संख्या एवं स्वरूप दोनों आधारों पर जीव की पारस्परिक भिन्नता मानते हैं।

अनुभव का आधार जीव हैं एक जीव का अनुभव दूसरे जीव के अनुभव से सर्वथा भिन्न हैं। इस भिन्नता का कारण अनुभव के आधारों की भिन्नता होनी चाहिए। सुख और दुःख का अनुभव स्वीयतया ही होता है इसलिए अनुभव का आधार एक दूसरे से पृथक् है।[2]

जीवों की पारस्परिक भिन्नता - मध्वाचार्य ने जीव की भिन्नता की स्पष्ट व्याख्या की है -

''तत्वमस्यहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिषु जीवस्य परेणाभेदः प्रतीयते।

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां द्वा सुपर्णा ' इत्यादिषु भेदः।

---

1 अतस्स्वभावरूपस्याभावे रूपपरम्परा।
निर्निमित्ता भवेत्तस्मात्साकारा जीवराशयाः।। मुक्तिमल्लिका, पृ. 204
यतः शीरव्यतिरिक्तजडा- कारादिमन्तः अत इत्यर्थः स्वभाव रूपस्य स्वभावदेहस्य।
रूपपरम्परा देह परम्परास्तस्मात् निर्णिमित्तत्वायोगात् । सुरोत्तमतीर्थटीका

2 जयतीर्थ - 'चैतन्यावच्छिन्नमैक्यमनुसंधानैकप्रमाणम् ।
अनुसंधानं नाम भोग समाख्यातः स्वीयतया दुःखादिसाक्षात्कारोऽभिमनः।।
- न्यायसुधा पृ. 506

अतः उच्यते - 'तत्वमसि' अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियों में तो जीव का परमात्मा से अभेद ज्ञात होता है तथा **'नित्यो नित्यानां '** **'द्वा सुपर्णा'** आदि श्रुतियों में भेद प्रतीत होता है इसका समाधान करते हैं-

ॐ पृथगुपदेशात् - वह अचिन्त्य परमातमा जीव समूह से भिन्न पूर्ण है जबकि जीव समूह अपूर्ण है, इसीलिए परमात्मा नित्यमुक्त है, यह जीव बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करता हैं। इस कौशिकश्रुति में स्पष्टतः दोनों की भिन्नता परिलक्षित है, इसलिए जीव परमात्मा से भिन्न ही है। भविष्य पर्व में जीव ब्रह्म की भिन्नता का सुस्पष्ट वर्णन है -

भविष्यतपर्वणि च-

भिन्ना जीवाः परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपतः।

प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वशः॥

अर्थात् जीव भिन्न है, परमात्मा भिन्न हैं फिर भी ज्ञानरूप होने से समस्त वेदमंत्रों में जीव को ब्रह्मरूप से वर्णित किया गया है।

जीवों में ज्ञान शक्ति और आनन्द की मात्रा के आधार पर भी अन्तर होता है, इसीलिए मध्वाचार्य ने जीवों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है -

1. मुक्तियोग्य
2. तमोयोग्य
3. निव्यसंसारी

जीव की भिन्नता स्वीकार कर लेने के पश्चात् यह स्वरूप- तारतम्य की मान्यता स्वीकार कर ली जाती हैं। किसी भी वैष्णव विचारक ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया, मध्वाचार्य की यह अपनी मौलिक मान्यता हैं। हमारे सामने कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो जीव के स्वरूप तारतम्य को मानने के लिए हमें बाध्य कर देते हैं। ब्रह्म स्वतंत्र क्यों है? जीव परंतत्र क्यों है? कुछ लोग क्यों शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कुछ लोग क्यों संसार के भागी बने रहते हैं? सभी प्रकार के दुःखों से ब्रह्म विनिर्मुक्त क्यों है? इसी कारण रामानुज मत के विद्वान् यद्यपि मुक्तावस्था में जीवेश्वराभेद को मानते हैं और स्वरूप- तारतम्य को अस्वीकार करते हैं तथापि उनके स्वयं के कथन नित्य संसारी की सतत सिद्ध

करते हैं।[1] इसी प्रकार रामानुज कुछ आत्माओं का ऐसा वर्ग भी स्वीकार करते हैं, जो नित्य मुक्त हैं जैसे विष्वक्सेन, गरूड आदि। इस तरह के मध्वाचार्य का स्वरूप- तारतम्य का सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो जाता है।

देव, मानव और असुर आदि योनियों में कर्म के द्वारा एक दूसरे में पहुँचा जा सकता है, परन्तु इन योनियों के वर्गीकरण का आधार केवल कर्म नहीं हैं। मानव-प्रकृति को ध्यान में रखने पर मध्वाचार्य का वर्गीकरण पर्याप्त व्यावहारिक प्रतीत होता है।

वैदिक श्रुतियों में भी जीवों के इस स्वरूप- तारतम्य का वर्णन प्राप्त होता है- यथा-

खले न पर्षानप्रतिहन्मि भूरि।

कि मां निन्दन्ति शत्रवो निन्दः॥ (ऋ0वे0 10.48.7)

आ- **अनारम्भरणे तमसि प्रविध्यम्।' (ऋ0वे0 1.82.6)**

इ- **'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः'' ईशोप0**

ई- **सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। ते ये शतं मानुशा आनन्दाः।**

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। तैत्ति0 उप0 2/8

उत्तरवैदिक - श्रुतियों में भी स्वरूप- तारतम्य का उल्लेख मिलता है-

अ- **दैवी सपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। गीता 16/5**

आ- **मामप्राव्यैव कौन्तेय ततो यान्त्वधमां गतिम्। गीता 16/20**

इ- **ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्या अधोगच्छन्ति तामसाः। गीता 14/19**

ई- **मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।**

सुदुर्लभं प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने। भागवत, पृ0 251

उ- **तेषां तमःशरीराणां तम एव परायणम्। महाभारत, पृ0 175**

ईश्वर की भक्ति भी तारतम्य विमुक्ति प्राप्त कराने वाली है।[2] नैयायिक एवं वैशेषिक विद्वान भी सर्वमुक्ति के सम्भवतः पक्षपाती नहीं है। चित्सुखी में भी

---

1 'वेदान्तदेशिकैः इह सयूथयाः परे च केचित् आहु इतः पूर्वमपि पश्चादपि केचिन्न मोक्ष्यन्ते'' एकं पादं नोद्धरति। क्षिपाम्यजस्रमशुभान्। 'मामप्रात्यैव' इत्यादिभिरेतसिद्धम् । - तत्वमुक्ताकलाप- वेदान्तदेशिक। पृ. 138

2 तदभक्तिः तारतम्येन तारतम्यं विमुक्तिगम् । '' अणुभाष्य 3

यह वर्णन प्राप्त होता है - 'कन्दलीकार, लीलावतीकार आदि कतिपय वैशेषिक मतानुयायी सार्वमुक्ति का विरोध करते हैं।[1]

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधारपर मध्वाचार्य ने स्वरूप तारतम्य को सिद्ध कर दिया, तथा इसी स्वरूप-तारतम्य के आधार पर जीवों की विभिन्नता की स्पष्ट व्याख्या की है।

जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध-अंशाशिभाव- जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या से पूर्व अंशांशिभाव पर विचार करना उचित होगा मध्वाचार्य जीव और ब्रह्म में अंशाशिभाव स्वीकार करते हैं- जीव अंश है और ब्रह्म अंशी। अंशाशिभाव की व्याख्या मुण्डकोपनिषद की एक श्रुति विशेष के द्वारा बहुत अच्छी तरह स्पष्ट होती है। यह श्रुति द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में स्थित है तथा **'त्युच्चरण श्रुति'** के नाम से जानी जाती है-

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः

सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः

प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति॥''

अर्थात् यह सत्य है कि जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिन्गारियाँ प्रकट होती है, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, और उसी में विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि से अग्नि के लक्षणों से युक्त सहस्त्रों स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार अक्षर से इन विविध पदार्थों की सृष्टि होती है और अक्षर में ही इनका विलय होता है। जिस प्रकार अग्निस्फुलिंग अग्नि के गुणों से युक्त और अग्निस्वरूप होता है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म के गुणों से युक्त और ब्रह्मरूप होता हैं। अग्निस्फुलिंग तत्त्वतः अग्नि से भिन्न नहीं होता, जीव भी इसी प्रकार अपने अंशी ब्रह्म से तत्तवतः अभिन्न होता है।

मध्वाचार्य ने 'अंश' पद को 'स्वरूपांश' तथा 'भिन्नांश' इन दो रूपों में स्वीकार किया है।[2] अवतार ब्रह्म के स्वरूपांश है तथा जीव भिन्नांश। इस प्रकार जीव ब्रह्म का अंश तो है, परन्तु वह उससे उस प्रकार से अभिन्न नहीं है

---

1 कंदलीकारप्रभृतिभिः कैश्चिदद्वैशेषिकविशेषैः सर्वमुक्तेरनंगीकरात्। चित्सुखी पृ. 356

2 मध्व- सांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते। 2.3.43

जिसप्रकार से अवतार ब्रह्म से है, अपितु जीव ब्रह्म से भिन्न है। अंश से अभिप्राय जीव का ब्रह्म से सम्बन्धित होना मात्र है।[1]

'अंश' पद 'अंशि' से भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों को सूचित करता है। भास्कर इसी 'अंश' पद के आधार पर 'भेदाभेद' सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। मध्वाचार्य को 'अंश' पद का उक्त प्रयोग ग्राह्य नहीं है।[2] मध्व कहते हैं - जीव एवं ईश्वर न तो परस्पर सर्वथा भिन्न है, और न अभिन्न। परन्तु **न जीवों ब्रह्मणो घट् इव पटादत्यन्तभिन्नः तथात्वे भेदश्रुतय उपरूध्येरन्।'' न्यायसुधा,** पृ0 453 जीव की सृष्टि, प्रतिबिम्बाकाश के समान, ईश्वर के प्रतिबिम्ब के उपाधि में पड़ने से होती है।

शंकराचार्य पारमार्थिक स्तर पर जीव की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, फिर भी व्यावहारिक स्तर पर जीव और ब्रह्म के बीच जो सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, वह 'अंशाशिसम्बन्ध' ही है। 'अंशाशिभाव' सबके द्वारा स्वीकार करने पर भी सबके निष्कर्ष अलग-अलग है। शंकर और मध्व में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि शंकर के लिए केवल यह एक व्यावहारिक सत्य है जबकि मध्व इसे वास्तविक स्वीकार करते हैं। मध्व उपाधि के द्वारा किसी अंश की मान्यता के पक्षपाती नहीं है। मध्वाचार्य कहते हैं - 'उपाधिकृत' भेद को स्वीकार करने में कुछ आपत्तियाँ भी हैं- यदि उपाधि के द्वारा जीव की स्थिति हुई है, यह माना गया तो आत्माश्रय-दोष होगा किसी अन्य उपाधि के द्वारा निर्मित मानने पर अनवस्था-दोष होगा।[3]

उपाधिकृत जीव-भेद मानने पर हाथ-पैर आदि के भी उपाधि ही होने से हाथ का कष्ट, पैर के कष्ट से भिन्न होना चाहिए तथा हाथ के कष्ट की अनुभूति सम्पूर्ण शरीर में नहीं होनी चाहिए। अर्थात् यदि उपाधि के कारण भोक्ता-भेद नहीं होता तब सभी आत्माओं के मूलतः एक होने के कारण, उपाधि आवरण

---

1 जयतीर्थ -''तत्सम्बन्धित्वमेव तदंशत्वमिति वक्ष्यामः। श्रुतिद्वयान्यथानुपपत्या भेदमंगीकृत्य अभेदस्थाने अंशत्वं वक्तव्यमिति भावः।'' तत्त्वप्रकाशिका 2.3.43

2 मध्व - अतश्चांशत्वमुद्दिष्टं भेदाभेदौ न मुख्यतः ' ब्रह्मसूत्र भाष्य 2.3.43

3 मध्व- उपाधिकृतांशकल्पने तदुपाधिकृतत्वे आत्माश्रयत्वम् ।
उपाध्यन्तरकल्पनेऽनवस्था। - विष्णुतत्त्व निर्णय, पृ. 29

के होने पर भी उनके भोक्तृत्व में अन्तर नहीं होना चाहिए अर्थात् एक को सभी के सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिए।[1]

यदि अज्ञान को स्वाभाविक मानते हैं, जिससे कि 'अंध' की स्थिति हो सके, तो वह अज्ञान स्वाभाविक होने के कारण सत्य हो जाएगा। अतः अज्ञान की निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी।[2] उक्त सभी तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपाधिकृत भेद की स्थिति में 'अन्योन्याश्रयता' नामक दोष होगा।[3]

उपाधि और उपहित का सम्बन्ध भी विचार करने योग्य है। यदि उपाधि शुद्ध चैतन्य के एक भाग को आवृत करती है तो शुद्ध चैतन्य अवयव-युक्त हुआ। जो वस्तु अवयवयुक्त होती है, वह अनित्य होती है। यदि उपाधि सम्पूर्ण शुद्ध चैतन्य को आवृत्त करती है तब अनुपहित और उपहित को भेदक-रूप में उपाधि रहेगी ही नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण के आवृत्त होने पर भेदकता का प्रश्न ही नहीं उठता है।[4]

रामानुज के अनुसार- जीव ब्रह्म का अंश है क्योंकि उसका ब्रह्म से भेदपूर्वक और अभेदपूर्वक दोनों ही प्रकार से निर्देश किया गया है। स्रष्टत्व, सृज्यत्व, नियामकत्व, नियम्यत्व इत्यादि भेदपूर्वक निर्देश है, तथा तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, आदि अभेदपूर्वक निर्देश है। भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश दोनों के मुख्यत्व की सिद्धि के लिए जीव को बह्म का अंश ही स्वीकार करना चाहिए।[5] मध्व और रामानुज में अत्यन्त समानता है क्योंकि दोनों ही जीव और ब्रह्म के बीच का अन्तर हर स्थिति में स्वीकार करते हैं।

---

1 'उपाधिभेदांगीकारे हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽपि तद्गतसुखदुःखादिभोक्तुर्यया भेदो न प्रतीयते, एवमेव शरीरभेदेऽपि भोक्तृभेदो न दृश्यते। सर्वदेहगतसुख-दुःखादिमेकेनैव भुज्यते।' - विष्णुतत्त्वनिर्णय पृ. 19

2 मध्व- स्वाभाविकत्वात् सत्यत्वात् - अनिवृत्तिप्रसक्तेश्च। विष्णुतत्त्वनिर्णयपृ. 28

3 मध्व- अतश्चान्योन्याश्रयता। विव.नि. पृ. 29

4 मध्व- किंचोपाधिरात्मन एकदेशं ग्रसति उत सर्वात्मानम्। एकदेशमंगीकारे सावयत्वम्। सावयत्वस्य चानित्यत्वम्। सर्वग्रासे च नोपाधिर्भेदकः स्यात्। -विष्णुत्त्वनिर्णय, पृ. 29

5 'ब्रह्मांश इति कुतः, नानात्वत्यपदेशात्। अन्यथा च एकत्वेन व्यपदेशत्। उभयथाहि व्यपदेशो दृश्यते ... एवमुभयव्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोऽश इत्यभयुपगन्तव्यः।'' - श्रीभा. 2.3.42

अतः जीव शाासित है और ब्रह्म शासक, जीव आराधक है और ब्रह्म आराध्य, जीव नियम्य है और ब्रह्म नियामक, इन सम्बन्धों में अन्तर बनाए रखने के लिए ही मध्व मुक्तादशा में भी द्वैत बनाए रखते हैं।

जीव का कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व - वैष्णव आचार्यों ने जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को जागतिक व्यवहार की सत्यता, तथा श्रुति के प्रत्येक शब्द की असंदिग्ध प्रामाण्यवता पर विश्वास इन दो विशेषताओं के आधार पर सिद्ध किया है। सभी वैष्णव आचार्य अपना सिद्धान्त रखने से पूर्व शांकरमत की व्याख्या करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वाभाविक नहीं अपितु औपचारिक हैं और बुद्धि रूप उपाधि के सम्पर्क से जीव में उनका कथन मात्र होता है। बुद्धि के इच्छा द्वेष सुख-दुःख आदि गुण ही आत्मा के संसारित्व में प्रमुख कारण है। बुद्धि-गुणों के अभाव में 'केवली' आत्मा का संसरण सम्भव ही नहीं हैं। नित्यमुक्त, अकर्त्ता, अभोक्ता और असंसारी आत्मा का कर्तृत्व-भोर्कृत्व लक्षण जो संसारित्व है वह आत्मा में बुद्धि-उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही होता है।[1] जीव के प्रमातृत्व, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म भी बुद्धयुपाधि के निमित्त से ही हैं। शंकर कहते हैं आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व इसलिए सम्भव नहीं है, क्यों कि यह मान लेने पर जीवात्मा का मोक्ष ही नहीं होगा। शंकराचार्य के अनुसार समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार व्यावहारिक स्तर पर ही हैं, परमार्थिक स्तर पर उसकी कोई सत्ता नहीं हैं इसी कारण कतृत्व-भोक्तृत्व को भी केवल व्यावहारिक स्तर पर ही स्वीकार करते हैं, और तभी तक स्वीकार करते हैं जब तक जीव का अविद्योपाधि से सम्बन्ध है।

मध्वाचार्य और शंकराचार्य में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जिस कर्तृत्व को शंकर केवल व्यावहारिक स्वीकार करते हैं, उसे मध्वाचार्य वास्तविक स्वीकार करते है। मध्वाचार्य ने जीव के कर्तृत्व की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार की है-

ईश्वरस्यैव कर्त्तृत्वमुक्तम्, यत् कर्म कुरूते तदभिसंपद्यते इति जीवस्यात्युलभ्यते। अत आह- कर्तृत्व एकमात्र ईश्वर का ही बताया गया है

1 न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्धियुपाधि-धर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। - शां.भा. 2.3.29

किन्तु जैसा कर्म करता है, वैसा हो जाता है, इत्यादि से तो जीव का कर्तृत्व भी ज्ञात होता है- इसका समाधान सूत्र के माध्यम से करते हैं **''ॐ कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ''** अर्थात् जीव में कर्तृत्व का अभाव है ऐसा मानने से शास्त्र का वचन झूठा हो जाएगा, अतः यही मानना चाहिए कि जीव भी कर्त्ता है।

''स्त्रीभिर्वा यानैर्वा'' इत्यादि श्रुति से मोक्षावस्था में भी जीव के कर्तृत्व का परिज्ञान होता है। एक अन्य श्रुति के माध्यम से मध्व जीव का कर्तृत्व स्पष्ट करते हैं-

ऊँ उपादानात् ''साधनाद्युपादानप्रतीतेश्च''

अर्थात् साधना आदि करने का जीव के लिए उपदेश दिया गया है, इससे भी जीव का कर्त्तृत्व निश्चित होता है। जीव का स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकार कर लेने पर शाङ्करमत की ओर से यह शंका उत्पन्न होती है कि स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकार कर लेने पर जीव की उससे मुक्ति सम्भव नहीं है, जिस प्रकार अग्नि की कभी उष्णता से मुक्ति नहीं होती है, इस स्थिति में जीव का मोक्ष सम्भव नहीं हैं। मध्वाचार्य इस शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि कर्तृत्वमात्र दुःखरूप नहीं है। सहज कर्तृत्व स्वीकार करने पर मोक्ष नहीं होगा यह शंका निर्मूल है क्योंकि अध्यासजन्य कर्तृत्व ही दुःखरूप है।[1] इस तरह अध्यास वन्धनकारी है, कर्तृत्व नहीं। कर्तृत्वमात्र को दुःखरूप मान लेने पर दुःख का सबसे बड़ा बोझ स्वयं ब्रह्म पर ही आ पड़ेगा क्योंकि वह तो सर्वकर्त्ता और सर्वकारयिता है।

सभी दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि जीव का कर्तृत्व स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं, अपितु ईश्वर के अधीन और उसके सम्बन्ध से ही है। जीव कर्त्ता होते हुए भी सर्वतन्त्र स्वतंत्र और निरंकुश नहीं है। ब्रह्म का अंश होने के कारण न तो स्वरूपतः ब्रह्म से स्वतंत्र है और न धर्मतः, इसी कारण कर्तृत्व भी ब्रह्मगत ही है। कर्तृत्व केवल जीव का ही है, जड़ प्रकृति का नहीं, जैसे पृथ्वी में ही सुगन्धित का प्राकट्य है, जल आदि तत्वों में नहीं। जड़ और जीव में अन्तर बनाये रखने के लिए ही ब्रह्म ने अपना कर्तृत्व जीव में ही प्रकट किया है, जड़ में नहीं, यद्यपि जड़ भी ब्रह्म का अंश है।

---

1 ''न च कर्तृत्वमात्रं दुःखस्वरूपम्। पयः पानादेः सुखरूपत्वात्। अणुभाष्य 2.3.40 न च सहजकर्तृत्वेऽनिर्मोक्षः। पराधीनकर्तृत्व एवैतदिति। - अणुभाष्य 2.3.39

मध्वाचार्य कहते हैं- ईश्वर जीव के करणीयाकरणीय का निश्चय करने के कारण जीव के नियन्त्रक हैं। **''ॐ यथा च तक्षोभयण''** सूत्र में मध्व स्पष्ट करते हैं कि जैसे बढ़ई कार्य करने वाले विशिष्ट कारीगर के नियन्त्रण में ही कार्य करता है वैसे ही जीव में भी दोनों बाते हैं- **''ॐ परात्तु तच्छ्रुतेः''**

कर्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृतिः।

यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥ इति पैङ्गिश्रुतिः।

जीव में वह कर्त्तृत्व शक्ति परमात्मा से ही प्राप्त होती है, जैसा पैङ्गि श्रुति में उल्लेख है-

कर्तृत्व, करणत्व, स्वभाव, चेतना और धृति जीव में परमात्मा की कृपा से ही हैं, उनकी उपेक्षा से इनमें, इनका अभाव होता है। शास्त्र में परमात्मा और जीव दोनों को कर्त्ता कहा गया है, मध्वाचार्य इस सूत्र के माध्यम से कहते हैं, ईश्वर और जीव दोनों का कर्तृत्व ही ठीक है, परन्तु जीव के प्रयत्न में प्रेरणा परमात्मा की ही रहती है, बिना ईश्वर की प्रेरणा के जीव कार्य नहीं कर सकता है। इस प्रकार से भी ईश्वर सर्वोपरि हो गया। जीव के कर्तृत्व की व्याख्या के पश्चात् यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर सर्वकारयिता है, जीव भ्रमवश स्वयं को सर्वेसर्वा समझते हुए बन्धन में बँधा रहता हैं। सत्य तो यह है कि जीवातमा बिना परमात्मा की कृपा से कुछ भी करने, न करने में समर्थ नहीं है।[1] अतः जीवन में विषम परिस्थिति अपने पर जीव को विचलित नहीं होना चाहिए, बल्कि जो कुछ भी हो रहा है, उसे भगवदिच्छा समझ कर स्वीकार कर लेना चाहिए।

जीव का बन्ध-मोक्ष- प्रत्येक महाप्रलय के उपरान्त ईश्वर जीव को उसकी वासना और कर्म की पूर्ति के लिए प्रकट करते हैं। ईश्वर का यह कार्य अपने किसी निमित्त के लिए न होकर निर्नैमित्तिक हैं। अतः सृष्टि जीव के कर्मभोग का अनिवार्य माध्यम हैं इसमें से होकर वह अपनी श्रेयस्कारी अवस्था को प्राप्त करता है। जीव का वास्तविक स्वरूप सुखात्मक है। बल, आनन्द, ओज आदि उसके स्वरूप धर्म है।[2] इसलिए बन्ध जीव का स्वरूप नहीं है,

---

1 एतदेवं न चात्येवमेतदस्ति न चास्ति च' इति मोक्षधर्मे। पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 146

2 मध्व ''बलमानन्दमोजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्।''
स्वरूपाण्येव जीवस्य ... ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.3.31

किन्तु यह बन्ध हैं जीव के ईश्वराधीन होने के कारण बन्ध भी बदधीन हैं। जीव का मोक्ष भी इसी के अधीन है।[1] यह ईश्वर की माया के द्वारा होता है।

जीव पराधीन एवं अल्पशक्तिवाला है, परन्तु स्वयं को ईश्वर से स्वतंत्र समझकर निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जाता है, इसका परिणाम यह होता है कि वह जागतिक पदार्थों में भगवदीयबुद्धि न रखकर आत्मबुद्धि स्थापित कर लेता हैं। इस प्रकार यह अहंताममतात्मक बुद्धि ही संसार है और जीव के बन्धन का कारण है।[2]

मध्वाचार्य अपने बन्ध के सिद्धान्त को 'स्वभावाज्ञानवाद'' कहते हैं। स्वभावाज्ञानवाद की अनेक व्युत्पत्तियाँ है जीव का अपने भाव-धर्म-परतन्त्रतादिविषयक अज्ञान जिस वाद में माना जाए वह 'स्वभावाज्ञानवाद'' है।

1. स्व अर्थात् अपना भाव जीव और उस पर आश्रित-आवरण-अज्ञान = स्वभावाज्ञान।
2. स्व= स्वतंत्र, भाव= तत्त्व अर्थात् परमात्मा, तद्विषयक अज्ञान
3. स्वभावभूत-अज्ञान अर्थात् अज्ञान जिसकी सत्ता मिथ्या नहीं है।

जिसका भाव सत्तात्मक रूप में है। स्वभाव से, स्वतंत्रत्त्व की प्रतीति से, उत्पन्न अज्ञान।[3] इन व्युत्पत्तियों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मध्व अज्ञान की सत्ता को मिथ्या नहीं मानते हैं।

मध्वाचार्य द्वारा स्वीकृत अविद्या का स्वरूप वास्तविक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वाधनीय नहीं है। ईश्वर की इच्छा एवं जीव के प्रयत्नों से उसका बाध सम्भव है।[4] अज्ञान के द्वारा जीवन के सम्बन्ध का समाधान नहीं खोजा जा सकता है, इसलिए उसे ईश्वराधीन माना है।[5] इसी कारण जीव का बन्धन शंकर के समान मिथ्या या भ्रम नहीं है अपितु सत्य है। उस बन्धन का मूल आधार अज्ञान है, तथा ईश्वर के वास्तविक रूप के विपरीत प्रतीति है।[6]

---

1 मध्व- ''पराभिध्यानात्तु ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ 3.2.5
''मतः स्मृतिज्ञानमयोहनच'' गीता 15/15
2 डॉ. राजलक्ष्मी वार्मा- आचार्य वल्लभ और उनका दर्शन, पृ. 133
3 जयतीर्थ- ''तथा स्वयमेव भवत्यस्तीति स्वभावो नाज्ञानकल्पित इति भावः।
4 डॉ. बी. एन. के. शर्मा - फिलासफी ऑव श्री मध्वाचार्य, पृ. 191
5 मध्व ''बन्धोऽपि तत एव स्याद्यस्मादेव तयोः प्रभुः । भा.ता. 2/64
6 जयतीर्थ - अज्ञानमपि सत्यमेव नाज्ञानकल्पितम् । '' न्यायसुधा, पृ. 64

मध्वाचार्य कहते हैं ईश्वर जीव का ठीक वैसे ही कारण है, जैसा कि पिता पुत्र के प्रति कारण है।[1] इस प्रकार मध्व का 'अंशाशिभाव' का अभिप्राय पिता-पुत्र के समान कारण-कार्य की प्रतीति करा देना हैं। मध्व ने 'बन्ध' को सत्य माना है, किन्तु यह सत्यता कालसापेक्ष नहीं है। जो वस्तु कुछ समय तक रहे उसका बाधित होना उसकी सत्ता का निषेध नहीं करता, क्यों कि थोड़े समय रहने वाली वस्तु, अधिक समय तक रहने वाली वस्तु से, कम सत्य नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से मध्व का 'बन्धविषयक' सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञान जीव को उसकी वास्तविक स्थिति से परिचित नहीं होने देता है, इस स्वप्रकाश तत्त्व के स्वरूप के कुछ भाग को छिपाए रखता है। वास्तविकता यह है कि जीव की क्षमताएं ईश्वर से ही उद्भूत हैं, किन्तु इस सत्य ज्ञान की अपेक्षा, जीव अज्ञान के कारण, उनको स्वयं से निःसृत मानता हैं, यही अविद्या है। प्रत्येक बृद्ध व्यक्ति मूलतः ज्ञानस्वभाव होने के कारण बन्धन से मुक्त होने की इच्छा से आत्मस्वरूप की जिज्ञासा करता है। जिज्ञासा के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले ज्ञान से, जो ईश्वर की कृपा के कारण ही है उसे मोक्ष प्राप्त होता है।[2] ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है और ईश्वर की कृपा भी भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है, क्यों कि श्रेष्ठ भक्ति ही ईश्वर को दयाद करने में समर्थ है।

मध्वाचार्य के अनुसार बन्धन से मुक्ति भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। भक्ति का अर्थ है - ईश्वर के प्रति जीव का दैन्य तथा सर्वात्मना आत्मसमर्पण। ज्ञान भक्ति से अभिन्न है अतः भक्ति को ज्ञान भी कहा जाता है और ज्ञान की विशेष स्थिति भक्ति के रूप में ग्रहण की जाती हैं। जिस प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तुएँ ज्ञानगम्य होती हैं, उसी प्रकार 'स्नेहयोग' भक्ति भी ज्ञानगम्य होती हैं। इसीलिए प्रायः श्रुतियों में 'मुक्ति' को ज्ञानगम्य माना गया हैं। मध्व ने 'ज्ञानयोग ' की भाँति भक्ति को 'स्नेहयोग' कहा हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान और भक्ति परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।[3]

---

1 मध्व- ''माम् रक्षतु बिभुर्नित्यं पुत्रोऽहं परमात्मनः।'' ब्रह्मसूत्र भा. 1.1.3

2 मध्व- ''जिज्ञासोत्थज्ञानजात् तत्प्रसादादेव मुच्यते। '' अनुव्याख्यान, पृ. 1

3 ज्ञानस्य भक्तिभागत्वात् भक्तिर्ज्ञानमितीर्यते।
ज्ञानस्यैव विशेषो यद्भक्तिरित्यभिधीयते।।
परोक्षत्वाद परोक्षत्वे विशेषौ ज्ञानगौ यथा।
स्नेहयोगोऽपि तद्वत् स्याद्विशेषो ज्ञानगोयतः।

मध्वाचार्य के अनुसार- भक्ति साधन तथा साध्य दोनों हैं। हरि की उपासना साधन और सिद्धि दोनों रूपों में स्थित है।[1]

मध्व मोक्ष को न उत्पाद्य मानते हैं, न ही विनाश्य, बल्कि वह जीव का स्वरूप ही है, अपने स्वरूप में अवस्थान ही ''मुक्तावस्था' हैं। अद्वैत मत के समान वे यह नहीं मानते कि मुक्त हो जाने पर केवल अखण्ड तुरीयावस्थागत तत्त्व ही स्थित रहता है, जीव की कोई स्थिति ही नहीं रहती। मध्व जीव को 'तदात्मक' मानते हैं, परन्तु 'तादात्म्य' नहीं मानते हैं, क्योंकि ईश्वर और जीव में प्रत्येक स्तर पर अन्तर अवश्य बना रहता हैं। मुक्तदशा में ऐक्य की अभिव्यक्ति के बाद भी, जीवों की भगवन्नियम्यता बनी रहती है, उसी प्रकार जैसे पुरुष प्रत्येक स्थिति में अपने अंगों का नियामक और संचालक रहता है।

इस प्रकार जीव का यह बन्ध और मोक्ष ब्रह्म की इच्छा से ही होता है, क्यों कि बन्ध एवं मोक्ष दानों ही अवस्थाओं में जीव की पराधीनता ईश्वर के प्रति हैं। उसे जो स्वातन्त्रय की प्रतीति होती है वह बुद्धि कृत मोह के कारण है।[2] इसलिए जीव को ईश्वर के चरणों में अनन्य आसक्ति रखनी चाहिए। ईश्वर के प्रति उसके मन में अनन्यत्व होना नितान्त आवश्यक है[3] तभी जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मध्व की जीव सम्बन्धी मान्यताओं की समीक्षा - मध्वाचार्य के जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् मुख्य तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं, जो इस प्रकार हैं - जीव की वास्तविकता, ईश्वर और जीव के बीच आराध्य-आराधक भाव, ईश्वर और जीव के बीच प्रत्येक स्तर पर एक अन्तर का निर्वाह।

इत्यभिप्रायतः प्रायो ज्ञानमेव विमुक्तये।
वदन्ति श्रुतयः सोऽयं सोऽयं विशेषोऽपि ह्युदीर्यते।। - अनुत्याख्यान, पृ. 50

1 मध्व- हरेरूपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी।
न तु साननभूता सा सिद्धिरेवात्रसामतः।। ब्र.सू.भा. 4.4.21

2 विष्णोरधीनं प्राकसृष्टेस्तथैव लयादनु।
अस्य सत्वप्रवृत्तयादि विशेषेणाधिगम्यते।।
स्वातन्त्र्यं स्थितिकाले तु कथंचित् बुद्धिमोहतः।
प्रतीयमानमपितु तस्मान्नैवेति गम्यते।। -भागवत् तात्पर्य 2/18

3 मध्व - ''गुरू मुक्ष्व च कर्मनिजं नियतं हरिपाद विनम्रधिया सततम्।
हरिरेव परो हरिरेवगुरूर्हरिरेव जगत्पितृमातृगतिः।। 3/1 द्वादशस्तोतम् ।

मध्व के जीव सम्बन्धी मान्यताओं की समीक्षा- तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मस्मि, इत्यादि श्रुतियों में तो जीव का परमात्मा से अभेद ज्ञात होता है, तथा **'नित्यो-नित्यानां' 'द्वा सुपर्णा'** आदि श्रुतियों में भेद प्रतीत होता है, इसका समाधान मध्वाचार्य इस प्रकार करते हैं **'ऊं पृथगुपदेशात्'** अर्थात् वह अचिन्त्य परमात्मा जीव समूह से भिन्न पूर्ण है, जबकि जीव समूह अपूर्ण है, इसलिए परमात्मा नित्यमुक्त है, यह जीव बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करता है। इस कौशिक श्रुति में स्पष्टतः दोनों की भिन्नता दिखलायी दी है, इसलिए जीव परमात्मा से भिन्न ही है।

पूर्णप्रज्ञभाष्य में का दृष्टान्त दिया गया है-

उदकं तूदके सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत् ।

न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते।।

एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परामात्मना।

प्राप्तोऽपि नासौ भवति स्वतंत्रयादि विशेषणात् ।।

अर्थात् जल में जल डालने से जेसे एक मिश्रण हो जाता है, किन्तु वास्तव में वह मिलता नहीं केवल बाढ सी दिखती है, वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा से एक होता है, किन्तु उसमें स्वतंत्रता आदि विशेषताएं नहीं आती।

मध्वाचार्य के अनुसार- जीव नित्य है, क्यों कि वह परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वेद से ही ऐसा ज्ञात होता है - ये समस्त चैतन्य आत्मा जो कभी नष्ट नहीं होते, परंज्योति में प्रविष्ट हो जाते हैं और फिर बिना नष्ट हुए यथावत् उत्पन्न हो जाते हैं, कभी नष्ट नहीं होते। ऐसी काषायण श्रुति है। मध्व कहते हैं अंश और अंशी स्वयं में न्यूनाधिक भाव के लिए पर्याप्त अवकाश रखते हैं। अंश और अंशी में तत्त्वात्मक अन्तर न हो, परन्तु परिमाणात्मक अन्तर रहता ही हैं अंश अंशी का एकदेशमात्र है। जीव अंश होने के कारण अंशी ब्रह्म से तत्त्वतः अभिन्न अवश्य है, परन्तु वह ब्रह्म का आंशिक प्रकाशन मात्र है, पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं। जीव और ब्रह्म के मध्य यह जो न्यूनाधिक है, वह वस्तुतः ब्रह्म की शक्ति और सामर्थ्य नहीं, अपितु उस शक्ति और सामर्थ्य के प्रकाशन में हैं। ब्रह्म के प्रत्येक रूप में उसकी शक्तियाँ, उसके गुण पूर्ण और समान है, किन्तु आवश्यकतानुसार कहीं प्रकट, कहीं अप्रकट कहीं ईषत्प्रकट है।

मध्वाचार्य ज्ञान को अंगरूप में स्वीकार करते हैं, परन्तु भक्ति के मुख्य मानने के कारण उसकी जो अपेक्षाएं हैं, वे अंशाशिभाव के द्वारा ही पूरी होती

हैं। उपास्य और उपासक, आराध्य और आराधक के बीच जिस अन्तर की आवश्यकता होती है, वह अंशाशिभाव से सहज ही सम्पन्न हो जाता हैं

जीव ब्रह्म की एक वास्तविक अभिव्यक्ति है, मध्वाचार्य जीव को ब्रह्मात्मक मानते हैं, परन्तु जीव स्वयं ब्रह्म नहीं है, दोनों में प्रत्येक स्तर पर अन्तर अवश्य बना रहता है। जीव शासित है, ब्रह्म शासक जीव, आराधक है ब्रह्म आराध्य, जीव नियम्य है - बह्म नियामक हैं। इन सम्बन्धों के लिए जिस अन्तर की आवश्यकता पड़ती हैं वह मध्वाचार्य मुक्तावस्था की अभिव्यक्ति के बाद भी भगवन्नियनयता बनी रहती है वैसे ही जैसे पुरुष प्रत्येक स्थिति में अपने अंशों का नियामक और संचालक रहता है। जीव के सिद्धान्तों की समीक्षा के अन्तर्गत ही 'तत्तवमसि' वाक्य पर द्वैत-अद्वैत सम्बन्धी विवाद है, उसको भी जानना आवश्यक हैं तत्वमसि का एक अर्थ जो शंकर को अभिप्रेत है- तत् त्वम् असि तू वह है, वह अर्थात् ब्रह्म यह किया जाता है। मध्वाचार्य इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते हैं।

तत्त्वमसि का दूसरा अर्थ 'तत्त्वम-असि' तू तत्त्व है - तत्त्व अर्थात् सत् है- सार है, यह भी होता है। मध्वाचार्य इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। ''तत्त्वमसि'' का पदच्छेद 'तत्वम् असि' इस प्रकार हैं 'असि' यह मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है, इससे ही 'त्वं' पद का बोध हो जाने से 'तत्त्वमम् ' एक पूरा पद है, जिसका तात्पर्य है- जीव की तत्त्वात्मकता अर्थात् ब्रह्मात्मकता। इस 'तत्वमसि' पद से जीव की तदात्मकता अंश रूप से उसी प्रकार कही गयी है, जिस प्रकार जड़ की कार्यरूप से।

छान्दोग्य उपनिषद में दृष्टान्त दिया है- **स यो एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्यते होवाच।** अर्थात् वह परम देवता सत् क्या है? वह स्थूल नहीं अणिमा है- सूक्ष्मतम है, यह सब स्थूल शरीर सत्य नहीं है, वही सत्य है। वह आत्मा है। **हे श्वेतकेतु 'तत्वमसि' तू** अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् सत् है, तेरा शरीर 'तत्त्व वस्तु' नहीं। अथवा तत्त्वमसि- तू वह है - तू भी उसकी तरह 'सत् ' है, असत् नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है -

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च, यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सत पुरुषात्केशलोमानि तक्षाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥

अर्थात् जैसे मकड़ी अपने में से जाला बना डालती है, और फिर समेट लेती है। जैसे पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती है, जैसे जीवित पुरुष के शरीर से केशलोम निकलते हैं, इसी प्रकार अक्षरब्रह्म (प्रकृति रूपी शरीर) से विश्व का निर्माण हो जाता है।

वेदान्ती इसका अर्थ अद्वैतपरक करते हैं, द्वैतवादी द्वैतपरक, मकड़ी अपने में से जो जाला निकालती है, वह अपने शरीर में से ही तो निकालती है, अपने ही में से, अपने आत्मतत्त्व में से तो नहीं निकालती। ब्रह्म भी अपने शरीर में से, (प्रकृति ही उसका शरीर हैं) इस विश्व की रचना कर डालता है।

इसी द्वैतभाव के आधार पर दो पक्षी हैं, जो प्रकृति रूपी वृक्ष पर रहते हैं- उनमें से एक वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है, दूसरा विना चखे सब कुछ देख रहा है, जीवात्मा तथा परमात्मा ही दो पक्षी है, प्रकृति ही वृक्ष है, कर्मफल ही वृक्ष का फल है। जीवात्मा को कर्मफल मिलता है।परमात्मा प्रकृति में सक्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व का दृष्टा है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखयः, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पित्वलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

प्रकृति रूपी वृक्ष तो दोनों के लिए ही समान ही है, परन्तु जीवात्मा तो उसके फल को देखकर विवश हो जाता है, सामर्थ्यहीन हो जाता है, उसी के खाने में निमग्न हो जाता है और पीछे अपनी मूर्खता पर पछताने लगता हैं और परमात्मा? परमात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष के फल को नहीं चखता, और फिर भी भोक्ता बना हुआ है, सम्पूर्ण प्रकृति उसी की उपासना में लीन है।

इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के भेद को मध्वाचार्य ने भी स्वीकार किया है। अपने ग्रंथ पूर्णप्रज्ञभाष्य में दृष्टान्त देते हैं-

सर्वज्ञाल्पज्ञता भेदात्सर्वशक्त्यल्पशक्तिः।

स्वातंष्यपारतंष्याभ्यां सम्भोगो नेशजीवयोः।। (गरूड पुराण)

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा एक ही शरीर में स्थित है, परन्तु दोनों का भोग समान नहीं है, क्यों कि दोनों के सामर्थ्य में अन्तर है, ब्रह्म में विशेष सामर्थ्य है।

गरुड पुराण में कहा गया है - ''सर्वज्ञ और अल्पज्ञ के भेद से एक सर्वशक्तिमान दूसरा अशक्त है, एक स्वतंत्र दूसरा परतन्त्र है, इसलिए अंश और जीव को भोग समान नहीं है।''

जीवात्मा जब परमात्मा की इस महिमा को देख लेता है, तब शोक करना पछताना छोड़ देता है।

यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान्पुण्य पापे विभूम निरस्जनः परमं साम्यमुपैति॥

अर्थात् जब जीवात्मा दृष्टा बनकर, बृहत् विश्व के कारण इसके स्वामी, इसके कर्त्ता, प्रकाशस्वरूप पुरुष को देख लेता हैं तब वह विद्वान् होकर पुण्य पाप को छोडकर शोक, मोह, राग, द्वेष से अलग होकर, परम समता को प्राप्त कर लेता है।

षष्ठ-अध्याय

माया-सिद्धान्त

माया का स्वरूप - ऋग्वेद में ''माया'' शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में किया गया और उपनिषदों में वही जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गयी। संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में ''माया'' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है। इस विषय में सबसे प्रसिद्ध वाक्य है- ''**इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते**''[1] अर्थात् इन्द्र मायाशक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़े हैं। राक्षस की माया छल करने वाली और धोखा देने वाली है किन्तु मित्र और वरूण माया के द्वारा ही वर्षा करते हैं, अतः वह कल्याणकारी भी है।[2] माया के कारण ही सूर्य और चन्द्र अस्त और उदित होते हैं किन्तु दोनों ही भावों में माया शब्द का प्रयोग किसी रहस्यमय शक्ति का सूचक है।

अथर्ववेद में हम देखते हैं कि माया में उत्पन्न करने की सामर्थ्य हैं।[3] वहाँ शब्द का प्रयोग करने वाला ऋषि माया को एक रहस्यमयी शक्ति तो मानता ही है, साथ ही उससे उत्पन्न होने वाली रचना को भी माया ही स्वीकार करता है। इस प्रकार माया कारण और कार्य दोनों है।

उपनिषदों में ब्रह्म तत्त्व से संसार की उत्पत्ति बतलाई गयी है और वहाँ माया शब्द का प्रयोग उसी सृष्टि के हेतु किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं-

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्य यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-त्तस्मिश्चान्यो मायया संनिरूद्धः॥[4]

अर्थात् वेद यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और जो भी कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है और उस प्रपञ्च में माया से अन्य-सा होकर वँधा हुआ है।

---

1 ऋग्वेद, 6. 47. 18
2 ऋग्वेद, 5. 63. 3
3 अथर्ववेद, 8. 9. 5
4 श्वेताश्वतर उपनिषद् 4. 9

इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण रुप जगत् उस परमेश्वर के द्वारा रचित है जो माया शक्ति का धारण-कर्त्ता है, और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से भिन्न रूप में अपनी कल्पना करता हुआ इस मायामय जगत् में बँधा है। अगले मंत्र में ऋषि अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं-

मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।[1]

अर्थात् प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयभूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यहाँ इस बात का संकेत मिलता है कि माया अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। यह संभव है कि ऋषि का संकेत माया के अवयवभूत सत्त्व, रज और तम तीनों गुण की ओर हों।

भगवद्गीता में कई बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण कहते है- मैं यद्यपि अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ किन्तु प्रकृति को अपने वश में कर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।[2] इसका तात्पर्य है कि अधिष्ठान परमात्मा में जब उसके स्वभाव के विपरीत लक्षण दिखाई देते है तो उसमें माया कारण होती है। अजन्मा का जन्म माया से होता है। इसका परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं- मेरी माया गुणमयी है और उसे पार करना कठिन है, जो मेरी शरण में आते हैं वही उसके पार हो पाते हैं।[3] ''गुणमयी'' से तात्पर्य सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त होना ही है और इन गुणों का वर्णन गीता में बड़े विस्तार से किया गया है।[4] इन गुणों से आन्तर और बाह्य सृष्टि की रचना हुयी है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग दो अर्थो में हुआ है- जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति और जीव को बंधन में डालने वाली मोहनी शक्ति। अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं- माया ज्ञान को अपहृत कर लेती है।[5] यह भी कहा गया है कि **''अज्ञानेनावृंत्त ज्ञानं''** अज्ञान से ज्ञान आवृत् है। दोनों में एकवाक्यता करने पर माया को अज्ञान रूप ही मानना पड़ता है।

---

1 श्वेताश्वतर उपनिषद् 4. 10
2 भगवद्गीता, 4. 6.
3 भगवद्गीता, 7. 14
4 भगवद्गीता, 14, 17, 18
5 भगवद्गीता, 7, 15

गौडपाद माया को ऐसी शक्ति मानते है जो द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। जीव उसी के कारण जगत् को सत् समझकर परम सत्य को भूल जाता है या स्वयं को उससे पृथक् समझने लगता है।

मध्व की माया सम्बन्धी अवधारणा- सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि आचार्य मध्व के अनुसार माया क्या है? मध्व पूर्णप्रज्ञभाष्य में कहते हैं-

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।
महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च॥

अर्थात् प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को मायी। यह माया ही अविद्या, महामाया, नियति और मोहनी रूप में जानी जाती है। हे अनन्त! तुम्हारी इच्छा को ही प्रकृति, वासना आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार महेश्वर की इच्छा को ही 'प्रकृति' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

मध्वाचार्य ने प्रकृति को उपादान-कारण के रूप में स्वीकार किया है। रामानुज के मत में भी प्रकृति अथवा अचित् तत्त्व ब्रह्म का नित्य सहवर्ती-विशेषण है तथा सृष्टि का साक्षात् उपादान कारण है। ''प्रस्थानरत्नाकर'' में भी प्रकृति को जगत् के उपादान के रूप में निर्मित एक भगवद्रूपविशेष कहा गया है, तथा त्रिगुणात्मिका भी कहा गया है।

''भगवता जगदुपादानत्वेन निर्मितं मुख्यं भगवद्रूपमित्यर्थः''[1]

मध्व द्वारा स्वीकृत माया का स्वरूप शंकराभिमत माया से भिन्न है। किसी भी सिद्धान्त में माया की स्थिति इस पर निर्भर होती है कि ईश्वर से उसका सम्बन्ध क्या है? दोनों के दृष्टिकोण में सबसे बड़ा अन्तर माया के सत्व और असत्व को लेकर है।

मध्वाचार्य ने परमवस्तु को सविशेष स्वीकार किया है, इसी कारण वे ईश्वर की शक्ति माया एवं उसके द्वारा रचित जगत् को भी सत्य स्वीकार करते हैं। मध्व कहते हैं- माया ब्रह्म की उपाधि नहीं है अपितु ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति होने के कारण अपुित ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति होने के कारण वह असत् नहीं हो सकती, क्योंकि सत् ब्रह्म से असत् माया का संबंध सम्भव नहीं

---

1 प्र.र. पृ. 185

हैं। माया ब्रह्म से भिन्न स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, वरन् उसके स्वरूप के ही अन्तर्गत है, और तत्त्वतः उससे अभिन्न है।

इसी सन्दर्भ में मध्वाचार्य श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक उदाहरण देते हैं-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकध्च दृश्यते

पराऽस्य शक्तिर्विविथैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥- (6/8)

परा शब्द का अर्थ है कि इन विविध शक्तियों का स्वरूप मन और वाणी आदि इन्द्रियों के द्वारा ''इथमित्थम् '' रूप से नहीं कहा जा सकता है। ये ब्रह्म से भिन्न नहीं, अपितु ब्रह्मरूप ही हैं। ब्रह्म की शक्तियाँ आगन्तुकी नहीं अपितु स्वाभाविक हैं। अतः इन्हें अविद्या-कल्पित मानना उचित नहीं है। ईश्वर की शक्ति माया उसके अधीन और उससे नियमित है, साथ ही उससे अभिन्न भी है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है।

शंकर की माया सम्बन्धी अवधारणा- मध्व की माया सम्बन्धी अवधारणा जानने के साथ ही साथ शंकर के माया की अवधारणा जानना आवश्यक है, क्योंकि शंकर के अद्वैत-वेदान्त में समस्त जगत् ही मायामम हो गया है। शंकर ने माया शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है, उसे स्वयं स्पष्ट कर दिया है-

अव्यक्तनाम्नी परमेराशाक्ति-

रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।

कार्यानुमेया सुधियैव माया

यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

सन्नात्य सन्नात्युभयात्मिका नो

भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयत्मिका नो।

महादुभतानिर्वचनीय रूपा॥[1]

---

1 विवेक- चूड़ामणि, 110 और 111

अर्थात् जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं। वह न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है, न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न साङ्गानङ्ग उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा प्रसिद्ध है।

मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृत मिथ्याभिमानैर्वा।[1]

अर्थात् माया से या प्रज्ञा से अथवा नामरूप उपाधि जनित मिथ्या अभिमान से (इन अर्थों, में भी माया का प्रयोग हुआ है।

यहाँ पर शंकराचार्य और मध्वाचार्य का मत, पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। शंकराचार्य अद्वैतवाद के पोषक हैं। वे जो पारमार्थिक और व्यावहारिक दो सत्ताएं स्वीकार करते हैं, उनमें वे दो सत्यों को स्वीकार नहीं करते, अपितु सत्य और सत्य के आभास को स्वीकार करते हैं। 'सत्य' सदैव एक ही होता है, दो नहीं होते। सत्य का एकत्व सभी ने स्वीकार किया हैं, मत- वैभिन्न इस पर है कि मध्वाचार्य कोई आभास या आविद्यक प्रतीति स्वीकार नहीं करते हैं जबकि शंकर सत्य का आभास अर्थात् व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। जगत् को ब्रह्म का आभास मानने के कारण शंकर इस आभास की कल्पिका के रूप में माया को ब्रह्म की उपाधि के रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि आभास या प्रतिबिम्ब की स्थिति किसी कल्पक या उपाधि के बिना सम्भव नहीं होती है। माया की उपाधि के रूप में स्वीकृति ही शांकरीयमत की सबसे बड़ी अनुपपत्ति है, अतः मध्वाचार्य के अनुसार शंकर के इस मत का खन्डन परम आवश्यक है।

माया के प्रकार - मध्व ने माया के खण्डन में तीन बातों पर विशेष आपत्ति की है। खण्डन के तीन मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं-

क. माया का अनादित्व

ख. माया का अनिर्वचनीयत्व

ग. माया का आश्रय

---

1 वृहदारण्यक उपनिषद्, शां. भा., 2. 5. 19, पृ. 615

1. मायोपाधि को अनादि स्वीकार करने पर अद्वितीय श्रुति का विरोध होता है। **''सदैव सोम्येदमग्राऽऽसीदेकमेवाद्वितीयम्''** में एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गयी है। मायोपाधि के वर्तमान होने पर ब्रह्म की यह अद्वयता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि उपाधि ब्रह्मात्मक नहीं है। इसके अतिरिक्त संसार हेतु भूता माया के रहने पर संसार तथा जीवों की स्थिति भी सदैव ही बनी रहेगी क्योंकि ब्रह्म और उपाधि दोनों के अनादि होने पर, निरन्तर सृष्टि होती रहेगी, कभी प्रलय होगा ही नहीं। मायावाद में कारणान्तर की अपेक्षा न रखते हुए इच्छा विशिष्ट उपहित ब्रह्म का ही कारणत्व स्वीकार किया गया है।

2. माया के जिस अनिर्वचनीयत्व को शंकराचार्य ने स्वीकार किया है, मध्वाचार्य ने उस अनिर्वचनीयता का विस्तार से तर्क पूर्ण खण्डन किया है। माया सत् नहीं हो सकती, क्योंकि इससे अद्वितीय श्रुति की हानि होती है, असत् भी नहीं हो सकती, क्योंकि असत् माया से संसार की उत्पत्ति और व्यवहार सम्भव नहीं है। सदसत् से विलक्षण कोई अनिर्वचनीय तत्त्व भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि तब ब्रह्म और उसकी उपाधि में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा।

सदसद्विलक्षण तो एकमात्र ब्रह्म ही है। गीता में कहा गया है- ''अनादिमत्परं ब्रह्मन् सत्तन्नासदुच्यते'' यह शंकर के 'सदसद्विलक्षण भावरूप अज्ञान' का खण्डन नहीं है।

3. तीसरी समस्या है माया के आश्रय की। प्रश्न यह उठता है कि माया किसका आश्रय लेकर भ्रम उत्पन्न करेगी? जीव का आश्रय तो नहीं ले सकती, क्योंकि जीव स्वयं अविद्या का कार्य है, जीवभाव के अविद्या-कल्पित होने के कारण। ब्रह्म का भी आश्रय नहीं ले सकती, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश और ज्ञान स्वरूप होने से स्वभावतया अविद्या का विरोधी है, अविद्या स्वरूपतः ज्ञान-निवर्त्य है अतः निराश्रया अविद्या की स्थिति ही सम्भव नहीं है।

मायावाद में अविद्या सम्बन्ध मात्र से ही जीवभाव होता है और शुद्ध ब्रह्म में अविद्या-सम्बन्ध होने पर ब्रह्म की भी जीवापत्ति होगी, न होने में कोई हेतु भी नहीं है। यह भी नहीं हो सकता है कि किसी अंश में ब्रह्म का अविद्या से संबंध हो, किसी अंश में न हो, क्योंकि अविद्या के भी विभु होने के कारण उसका ब्रह्म के किसी अंशविशेष से संबंध नहीं हो सकता है और फिर ब्रह्म भी निरवयव है। इस प्रकार किसी भी दशा में अविद्या से सम्बन्ध होने पर ब्रह्म उसके दोषों से मुक्त नहीं हो सकता है। अतः माया को उपाधि स्वीकार करने पर

अनादित्व, अनिर्वचनीयत्व, तथा अविद्या और ब्रह्म के सम्बन्धों की असम्भावनीयता आदि समस्याओं का निराकरण सम्भव नहीं है।

माया की उपाधिरूपता का खण्डन- इस प्रकार शंकर ने स्वयं माया की विशेषताओं का उल्लेख किया है। अद्वैतवाद में ब्रह्म ही ''एकेवाद्वितीय'' परम सत् है। इसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है, किन्तु जगत् का नानात्व भी अनुभव सिद्ध है। इसकी व्याख्या करने के लिए माया का प्रत्यय प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रथम इसे ईश्वर की शक्ति स्वीकार किया गया है। ब्रह्म के ही माया का स्वामी होने से उसे ईश्वर की शक्ति स्वीकार किया गया है। ब्रह्म ही माया का स्वामी होने से ईश्वर कहलाता है। अतः माया का प्रत्यय आते ही उसकी उपाधि से ईश्वर भाव भी उत्पन्न होता है। माया शक्ति ईश्वर के अधीन और उससे अपृथक् है।

मध्व कहते हैं कि शंकर के मायावाद को स्वीकार करने में सबसे बड़ी समस्या यह है कि सत् और सर्वज्ञ ब्रह्म से असत् रूप माया का संबंध कैसे होगा? दोनों के मध्य सम्बन्धों की असम्भावना पर विचार करते हुए कहते है कि ब्रह्म और माया के बीच संबंध क्या होगा? दोनों में संयोग संबंध हो नहीं सकता क्योंकि दोनों ही विभु है। दोनों में स्वरूप संबंध भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, नहीं तो मुक्तात्माओं में भी अविद्या-सम्बन्ध वर्तमान रहने से उनका भी संसारित्व हो जाएगा।

इसके साथ ही एक और समस्या उत्पन्न हो जाती है कि सत् और असत् की कोटियों से अतीत तथाकथित अनिर्वचनीय माया का अस्तित्व स्वीकार भी कर लिया जाए तो यह माया किसका आश्रय लेकर भ्रम उत्पन्न करेगी? जीव का आश्रय नहीं ले सकती क्योंकि जीव तो स्वंय अविद्या का ही कार्य है, जीव-भाव के अविद्या-कल्पित होने के कारण। ब्रह्म का भी आश्रय लेना सम्भव नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश और ज्ञानस्वरूप होने से स्वभावतया अविद्या का विरोधी है तथा अविद्या स्वरूपतः ज्ञाननिवर्त्य है अतः निराश्रय अविद्या की स्थिति ही सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त मायावाद में अविद्या सम्बन्ध मात्र से ही जीवभाव होता है और शुद्ध ब्रह्ममें अविद्या संबंध होने पर ब्रह्म की भी जीवापत्ति होगी, न होने में कोई हेतु भी नहीं है। यह भी नहीं हो सकता कि किसी अंश में ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध हो, और किसी अंश में न हो क्योंकि अविद्या के भी विभु होने के कारण इसका ब्रह्म के किसी अंश विशेष से ही सम्बन्ध नहीं हो सकता और फिर ब्रह्म भी निरवयव है। अतः किसी भी

स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि अविद्या से सम्बन्ध होने पर ब्रह्म इसके दोषों से दूषित न हो।

इस प्रकार शांकरमत में मायोपाधि का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसे द्वैतवाद में स्वीकार नहीं किया गया है। प्रमुख वैषम्य तो यही है कि द्वैतवाद में ब्रह्म और जीव दोनों की ही उपाधि स्वीकार नहीं की गयी है। इस खण्डन से यह ज्ञात हो जाता है कि माया को उपाधि स्वीकार करने में अनादित्व, अनिर्वचनीयत्व तथा अविद्या और ब्रह्म के सम्बन्धों की अनुपपत्ति आदि कुछ समस्याओं का निराकरण ही सम्भव नहीं है।

माया और अविद्या - माया की चर्चा के प्रसङ्ग में माया और अविद्या में अन्तर भी जानना आवश्यक है। जहाँ एक ओर शंकर माया और अविद्या को अभिन्न मानते हैं, वहीं दूसरी ओर मध्वाचार्य उन्हें भिन्न-भिन्न मानते हैं, अविद्या, माया का कार्य और उसका एक अवान्तर भेद है, यह अविद्या ही अध्यासरूपा है, माया नहीं। माया को जो कभी-कभी व्यामोहिका कह दिया जाता है वह अविद्या के सम्बन्ध से ही कहा जाता है। दोनों मतों में यह भी अन्तर है कि शंकर की माया अथवा अविद्या की भाँति मध्व की माया और अविद्या असत् नहीं है। दोनों ही सत् तथा भगवान् की शक्तियाँ हैं, इस आलोचना के आधार पर यह निश्चित होता है कि द्वैतमत में माया न तो असत् है और न उपाधि। यह ब्रह्म की कार्यकरणात्मिका शक्ति है तथा अविद्या के माध्यम से अध्यास का कारण बनती हुई भी स्वयं अध्यासरूपा नहीं है। ब्रह्म को जो 'मायी' कहा जाता है वह इस माया शक्ति से मुक्त होने के कारण ही कहा जाता है।

माया के दो प्रकार भी स्वीकार किये गये हैं- एक विश्वरचना में करणभूत ब्रह्म की कार्यकारणात्मिका शक्ति है और दूसरी व्यामोहिका है। इनमें से पहली ब्रह्म की कर्तृत्वशक्ति है जिसके द्वारा वह त्रिगुण को स्वीकार कर सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करता है, दूसरी जो व्यामोहिका माया है वह उसकी इच्छा पर जीवों का व्यामोहन करती है तथा बन्धनस्वरूपा है।

श्रीमद्भागवत् 2/5/18 में एक और माया का उल्लेख किया गया है जिसके द्वारा भगवान् सृष्टि के हेतु सत्व, रजस्, और तमस् गुणों का ग्रहण करते

हैं। यह माया व्यामोहिका माया से भिन्न है।[1] श्रीमद्भागवत् में भगवान की द्वादश शक्तियों की भी परिगणना की गयी है-

''श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।

विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥''

ईश्वर की शक्ति होने के कारण इसका भी सत् होना निश्चित ही है।[2]

सभी आचार्य जगत् के नानात्व का कारण ईश्वर की शक्तिभूता माया या अविद्या को मानते हैं। जिस आचार्य ने जिस शब्द का प्रयोग किया है उसी को अनादि, अनिर्वचनीय आदि विशेषण दिये हैं। वे माया को अविद्यात्मक और अविद्या को मायिक स्वीकार करते हैं। अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि माया और अविद्या की अवधारणायें परस्पर पृथक् हैं या नहीं। इस पर विद्वानों में मतभेद है। विद्यारण्य कहते है- **''अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वाभास प्रतिबन्धविपर्ययावभासयोर्हेतुत्वं लक्षणं तच्चोभयोरविशिष्टम्''।**[3] अर्थात् अनिर्वचनीय होकर तत्त्वाभास के प्रतिबन्ध का कारण और विपर्येय यह लक्षण अविद्या और माया में दोनों में एकरूप है। ऐन्द्रजालिक वस्तु की उपादानस्वरूप माया ही रजत आदि अध्यासों की भी उपादान रहे, पृथक् अविद्या की कल्पना की क्या आवश्यकता है? ''माया तु प्रकृति'' इस वाक्य से सकल प्रपञ्च का उपादानत्व प्राप्त है। अतः ''लाघवान्ययैवाविद्या'' अर्थात् लाघवन्याय से माया ही अविद्या है।

पुनः विद्यारण्य यह भी कहते हैं कि एक ही वस्तु में उपाधि भेद से नाम भेद मान लिया जाता है। **''लोकप्रसिद्धिस्त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि उपाधिभेदादुपपद्यते। विरूपजनकत्वाकारेणेच्छाधीनत्वाकारेण वा मायेति व्यवहारः। आवरणाकारेण स्वातन्त्र्याकेण वाविद्येति व्यवहारः**।[4] अर्थात् लोकप्रसिद्धि तो एक ही वस्तु में उपाधि से भेद उत्पन्न मानती है। विरूपजनकत्वरूप से अथवा इच्छा के अधीन उसका आकार पाने से माया शब्द

1 ''ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोथेषु उत्पत्तिस्थितिलमार्थं ग्रहीताः। तेषामपि ग्रहणं मायया, एषा हि माया जगत्कर्त्री न तु व्यामाहिका।'' - श्रीमद्भागवत 2/5/18

2 ''अविद्याऽपि तच्छक्तिः। मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात्, श्रियापुष्ट्या-गिरेतिवाक्यात्।'' - त. दी. नि. 9/26

3 विवरणप्रमेयसंग्रह 1.1. (पृ. 133)

4 विवरणप्रमेयसंग्रह (पृ. 136)

का व्यवहार होता है और अधिष्ठान के अवभास का प्रतिबन्धक जो आवरण है उसके रूप से अथवा स्वातन्त्रय से अविद्या का व्यवहार होता है। इसलिए इन्द्रजाल आदि के लिए माया शब्द का व्यवहार और अन्यत्र अविद्या शब्द का व्यवहार भी उपपन्न है, इसमें कोई विरोध नहीं है। इसीलिए विद्यारण्य ने ''**तत्त्वस्य सुखबोधाय**''[1] रचना करने पर पञ्चदशी में ''माया'' और ''अविद्या'' में भेद माना है। ''चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त, सत्त्वरजतम गुण वाली वस्तु ''प्रकृति'' कहलाती है।

''सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां'' मायाविद्ये च ते मते॥[2]

अर्थात् वह प्रकृति सत्त्व की शुद्धि से ''माया'' सत्त्व की अशुद्धि से अविद्या कही जाती है।

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्रयादनेकधा॥[3]

अर्थात् माया में पड़ा बिम्ब उस माया को अपने वंश में रखता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर होता है और दूसरा अविद्या में प्रतिबिम्बत होकर उसके वश में रहकर जीव कहलाता है। यह अविद्या की विचित्रता के कारण अनेक हो गया है।

शंकर भी माया और अविद्या को मूल में एक मानते हुए भी उनका भेद स्वीकार करते हैं-

1. माया ब्रह्म की शक्ति है, अतः भावात्मक है। अविद्या केवल विद्या का अभाव है, अविद्या अभावात्मक है।

2. माया ईश्वर की उपाधि है, परन्तु अविद्या जीव की उपाधि है। मायोपाधिक ईश्वर है तथा अविद्योपाधिक जीव है।

3. माया में सत्त्व गुण की प्रधानता है, परन्तु अविद्या में नही।

मध्व ने भी माया और अविद्या में अन्तर किया है, तथा माया को ब्रह्म की वैचित्र्यशील शक्ति और अविद्या को भ्रमात्मिका स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह अविद्या भी ब्रह्म की ही शक्ति है, यह अविद्या भ्रम का कारण है

---

1 पञ्चदशी, 1.2 पृ. 1
2 पञ्चदशी, 1.16 पृ. 10
3 पञ्चदशी, 1.17 पृ. 11

किन्तु स्वयं असत्य नहीं है, इसे जब भ्रमात्मिका कहा जाता है तो इसके कार्य अध्यास के संबंध से ही कहा जाता है।

मध्व की माया सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा - अविद्या का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर अध्यास की भी व्याख्या आवश्यक हो जाती है। शांकरमत में अध्यास, भ्रम, माया, अविद्या, भांति आदि सभी समानार्थक माने गये हैं। शंकर के अनुसार- अध्यास का लक्षण है- किसी वस्तु का अपना स्वरूप छिपाकर, किसी दूसरे वस्तु के रूप में प्रतीत होना। अर्थात् सत् पदार्थ में असद् (तद्भिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप ही अध्यास है।[1] शंकराचार्य के विपरीत मध्व कहते हैं कि जीव तो सत्य है ही, विषय अर्थात् जगत् और जागतिक पदार्थ भी सत्य हैं। मध्व के अनुसार यह सृष्टि मायिक नहीं है, यह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने के कारण ब्रह्मरूप है और ब्रह्म जितना ही सत्य है, यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है कि जिसे 'अनृत' कहा जा सके। देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण- ये सब जड़ तो हैं, किन्तु असत्य नहीं है क्योंकि जड़ भी ब्रह्मात्मक है, यह अध्यास अविद्या के कारण होता है। ब्रह्मात्मक प्रपंच में ब्रह्मभिन्न बुद्धि होना ही विपरीत ज्ञान है। जिस प्रपंच में भगवदीयबुद्धि होनी चाहिए, उसमें जीव अपनी अहन्ता- ममता स्थापित कर लेता है, इसी प्रकार अन्तःकरण, शरीरादि को भी भगवदीय बुद्धि से स्वीकार न कर आत्मबुद्धि से स्वीकार करता है। जब जीव स्वयं को तथा इस जगत को ब्रह्म से भिन्न और स्वतंत्र समझने लगता है, तो उसे आसक्तियाँ घेर लेती हैं, और जन्म-मरण के आवर्त्त में फँस जाता है। इसी कारण मध्व ने देहेन्द्रियादि- अध्यास को अन्यान्य देहेन्द्रियादि-धर्मों के अध्यास का कारण बताया है जो पुनः जन्म-मरण परम्परा का कारण बनता है। यही माध्व मत में अध्यास का स्वरूप है।

मध्व के माया सम्बन्धी सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म इस माया शक्ति से ही विश्व के रूप में आविर्भूत होता है, इसलिए अनेक स्थलों पर जगत् को माया कृत या मायाजन्य ही कहा जाता है। माया ममता का तात्पर्य सृष्टि के मालिक या असत्य होने से नहीं है। सृष्टि सर्वथा ब्रह्मात्मक ही है, माया के करण होने से ब्रह्म का असमर्थ्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि माया स्वयं ब्रह्म की सामर्थ्य रूप है।

---

1 परत्र पूर्वद्रष्टाषभासः। शा. भा. उपोद्धात

मध्व कहते हैं- विद्या और अविद्या माया से स्वतंत्र नहीं अपितु उसके अधीन है। दोनों माया से भिन्न हैं। विद्या और अविद्या दोनों ही जीव को अपना विषय बनाती है, तथापि ये जीव का धर्म नहीं हैं। ये दोनों ही ब्रह्म की शक्तियाँ है और उसकी ही इच्छा से प्रवर्तित होती है। ब्रह्म जिस शक्ति से इन दोनों का नियमन करता है, वह शक्ति माया है, इसलिए विद्या-अविद्या तथा माया में नियम्य नियामक भाव है।

माध्व दर्शन में भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण माया का भक्ति निवर्त्यत्व बताते हुए गीता का उदाहरण देते हैं-

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते॥ श्रीमद्भा0 6/14

जब तक माया की निवृत्ति नही होती, जीव नित्यमुक्त नहीं हो सकता है। माया-कार्य होने से विद्या-अविद्या का भी आत्यन्तिक विनाश भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। मध्वाचार्य भक्ति को श्रेष्ठ मानने के कारण कहते हैं- विद्या से अविद्या का उपमर्द होता है नाश नही, क्योंकि विद्या सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण अपनी जनक माया का समूल नाश नहीं कर सकती है, इस प्रकार माया के विद्यमान रहने पर विद्या-अविद्या दोनों सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती हैं। भगवत्कृपा होने पर माया की निवृत्ति होती है, तब उसकी कार्यभूत विद्या और अविद्या भी निवृत्त हो जाती है, अन्यथा जीव की नित्यमुक्तता नहीं होगी।

सप्तम-अध्याय

सृष्टि-अवधारणा

सृष्टि का स्वरूप - सृष्टि पर विचार करने के पूर्व व्यक्त और अव्यक्त का ज्ञान आवश्यक है। व्यक्त का तात्पर्य है समस्त इन्द्रियगोचर जगत् तथा इसके अन्तर्गत आने वाला पदार्थ संघात जिसके द्वारा समस्त व्यवहार होता है। इस प्रकार व्यक्त की स्वरूप सीमा में भोक्ता जीवात्मा और भोग्य संघात दोनों ही आते हैं। अव्यक्त से तात्पर्य है जो इन्द्रियगोचर न हो अर्थात् ब्रह्म आदि अव्यक्त सत्ता है इस प्रकार सृष्टि से तात्पर्य व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही भाव पदार्थों से है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि का मूल कारण क्या है? इस विषय पर विचार करने के पश्चात् दो प्रकार के विचार सामने आते हैं। विचारकों का एक वर्ग सृष्टि के कारण के रूप में एक ही तत्त्व की स्थिति स्वीकार करता है। दूसरे वर्ग ने अनेक तत्त्वों के कारण के रूप में स्वीकार किया है। पहले वर्ग के विचारक उपनिषद् एवं उसके अनुवर्ती मत हैं और दूसरे वर्ग के समर्थक चार्वाक जैन, सांख्ययोग आदि सम्प्रदाय हैं।

उपनिषद् के ऋषिगणों के अनुसार- जो भी दृश्यमान् भौतिक तत्त्व हैं, वे सभी नष्ट होते हैं, जो वस्तु कार्यरूप होती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। दृश्य जगत् के अस्ति रूप को ग्रहण करके उसके कारण को कुछ आचार्यों ने भाव रूप माना अन्य ने उस असत् दृश्य रूप को देखकर असत्कारण की भी कल्पना की हैं। इस मत से सम्बन्धित अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं।[1] इन विचारकों के अनुसार असत् ही पहले था। उससे सत् हुआ तदनन्तर क्रम आगे बढा।[2] नासदीय सूक्त के ऋषि को इन दोनों एकान्तों का

---

1 असद्वा इदमग्रमासीत्।'' तैत्तिरीयोपनिषद् 2/6
नैवेह किंचन अग्न आसीत् । मृत्युनैवेदमावृतमासीत् ।'' -वृहदारण्यकोपनिषद् 1/121

2 असदेवेदमग्र आसीत् । तत् सदासीत् । तत् समभवत् ।
तदाण्डं निरवर्तत।'' छान्दोग्यपनिषद् 3.19.1

निषेध करना पड़ा। कारण के अव्यक्त होने से, अज्ञात होने से, उस कारण के स्वरूप के इन द्वन्द्वों में से किसी की भी स्थिति हो सकती है।[1] सत् तत्त्व भी आप, अग्नि आदि के रूप में अनेक प्रकार का हो सकता है, किन्तु ऋग्वेद के ऋषि ने इसे भी एक ही तत्त्व माना, भिन्नता केवल नाम निर्देश मात्र के लिए है।[2]

दर्शन के अब तक के विकास ने दृश्य जगत् के मूल कारण को अस्ति-रूप में ही माना तथा उसे सद्रूप ही ग्रहण किया गया।

सृष्टि की कारणता - सृष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्म की कारणता विशेष महत्त्वपूर्ण है। क्यों कि सृष्टि से ब्रह्म कार्य होने के कारण उसका स्वरूप और स्थिति पूरी तरह से कारण के स्वरूप और स्थिति पर ही अवलम्बित हैं। मध्वाचार्य कहते हैं- शुद्ध अर्थात् मायोपाधिरहित ब्रह्म ही सृष्टि का निमित कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण हैं माया प्रपंच के निर्माण में कारणभूता अवश्य हैं, किन्तु इस आधार पर सृष्टि को मायिक नहीं कहा जा सकता, क्यों कि माया ब्रह्म की शक्ति है, तथा उससे अभिन्न हैं। शुद्ध ब्रह्म ही अपनी कार्यकरण सामर्थ्यरूप मायाशक्ति से इस अचिन्त्यरूपात्मक सृष्टि की रचना करता है, अतः जगत् को भ्रमात्मक या मिथ्या कहना उचित नहीं है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि शंकर जिस समय सृष्टि के सत्यत्व का निषेध कर रहे होते हैं, उस समय वे इसकी स्वतंत्र सत्ता के अभाव की ही बात कर रहे होते हैं। यद्यपि शंकर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म को मानते हुए जगत् की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते, तथापि व्यावहारिक स्तर पर यह जगत असत् नहीं है, यह स्वीकार करते हैं।

आचार्य मध्व प्रकृति को भौतिक जगत् के उपादान-कारण के रूप में स्वीकार करने के कारण[3] काल को उसका प्रत्यक्ष परिणाम मानते ह तथा अन्य सभी वस्तुओं की उत्पत्ति उसके उन क्रमिक परिवर्तनों के द्वारा होती है, जो महत् आदि पदार्थों से प्रारम्भ होते हैं। अपने ''अनुव्याख्यान'' ग्रन्थ में मध्व प्रकृति को 'द्रव्य' के रूप में स्वीकार करते हैं। मध्व सम्प्रदाय में उसे 'माया' नामक ईश्वर की सहचरी के रूप में माना गया है यद्यपि वह दोषमुक्त 'जड' एवं 'परिणामिनी'

---

1 ''नासदीयसूक्त 10/129''

2 ऋग्वेद 1.164.46

3 ''साक्षात् परम्परया वा विश्वोपादानं प्रकृतिः।'' - पदार्थसंग्रह पृ. 93

कहीं गयी है। तथापि वह ईश्वर के पूर्ण नियन्त्रण में होने के कारण उसकी इच्छा अथवा शक्ति मानी जाती है, हरेरइच्छाथवा बलम्। यह प्रकृति ही जीव के लिए सभी बन्धनों का कारण होती है।[1] समस्त प्राणियों के 'लिङ्ग-शरीर' इस प्रकृति के उपादान से निर्मित होते हैं।

मध्वाचार्य कहते हैं ईश्वर ही जगत् का मूलाधार है- [2] क्योंकि सृष्टि का होना उसकी क्रिया पर ही निर्भर है। मध्व आकाश, काल आदि की नित्यता स्वीकार करते हैं, इस प्रकार इन तत्वों की, सृष्टि का अभिप्राय उनकी विशेष रूपोलब्धि ही है, जो ईश्वराधीन हैं। इस प्रकार सृष्टि स्वरूप-परिवर्तन के रूप में है जगत स्वरूपतः परिवर्तनशील है। यह परिर्वतन ईश्वर की इच्छा से होता है, क्यों कि वह जगत् का निमित्त कारण है।

जगत् के नित्यरूप की अधीनता नियमनादि के द्वारा हो सकती है, जब कि परिवर्तन रूप सृष्टि की अधीनता ईश्वर की इच्छा से सृष्टि करने के कारण हैं। आकाश-कालादि नित्य-द्रव्यों की पराधीनता स्वीकार करने में किसी प्रकार की तर्कविरूद्धता नहीं है। नित्य पदार्थ नियमित होने से अनित्य भी नहीं होगे। न ही इन नित्य पदार्थों का कोई स्वरूप- परिवर्तन ईश्वर के द्वारा किया गया, जो उसे अनित्य प्रमाणित कर दे। ईश्वर की अधीनता का अर्थ यह भी नहीं है कि वह नित्य को अनित्य अनित्य को नित्य में परिवर्तित कर देगा, क्यों कि नित्य को नित्य के रूप में एवं अनित्य को अनित्य के रूप में नियमित करना ही ईश्वर का उद्देश्य है।[3]

मध्व ईश्वर को केवल निमित्त कारण स्वीकार करते हैं। यहाँ पूर्वपक्षी के द्वारा एक आरोप लगाया गया है कि ईश्वर को केवल निमित्त कारण नहीं माना

---

1 " जगबन्धात्मिका" - भगवत-तात्पर्य 3,10,9 पृ. 29

2 "अधिष्ठानमितिप्राहुर्मूलाधारं विचक्षणाः"
भा.ता. में उद्धृत वामनपुराण, पृ. 93

3 जयतीर्थ - यथा अनित्यं घटादिकमनित्यतया।
नियम्यते, तथा नित्यमपि नित्यात्मना नित्यं
सर्वदेवेश्वरो नियामयति। .... न चानित्यत।
पराधीनेति कदाचिन्नत्यता घटादेः प्राप्ता।
विनाशकारणोपनिपानघ्नोव्यात् तथा नित्यस्य
नित्यतायाः पराधीनत्वेऽपि न जात्वनित्यतापत्तिः । तन्नियमननियमात्।"
-न्यायसुधा, पृ. 230

जा सकता, इससे श्रुति में एक विज्ञान से जो सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है, वह व्यर्थ हो जाएगी। "**अपि वा तमादेशमप्राक्ष्य येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं** (छा0 6.1.3) **ऐसी प्रतिज्ञा कर श्रुति यथौकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् ....** (छा0 6.1.4) इत्यादि से मृत्तिका और मृण्मय, सुवर्ण और सुवर्णमय आदि का दृष्टान्त देती है जिस प्रकार उपक्रम और उपसंहार एकार्थक होते हैं, उसी प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त भी एकार्थक होते हैं। यदि ब्रह्म को समवायिकारण नहीं मानेगें तो प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों ही व्यर्थ हो जायेगें। समवायि कारण का ज्ञान होने पर ही कार्य का ज्ञान होता है।[1] कार्य कारण की ही एक अवस्था- विशेष होता है, अतः विभिन्न कार्यों में तत्तदवस्थाविशिष्ट अर्थात् उन रूपों में अभिव्यक्त कारण स्वरूप ब्रह्म का ही ज्ञान होता हैं इसी प्रकार समस्त कार्यजात की भी ब्रह्म से अभिन्न रूप में प्रतीति होती है।[2]

आचार्य बादरायण ने ब्रह्म का समवायित्व सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ और प्रमाण दिये हैं। **अभिध्योपदेशाच्च 1.4.24, 'साक्षाच्चोभयाऽऽम्नात् 1.4.25, आत्मकृतेः परिणामात् 1.4.26 योनिश्च ही गीयते 1.4.26** आदिसूत्रों में सूत्रकार ने ब्रह्म का समवायित्व ही प्रदर्शित किया है। इस विषय पर मध्वाचार्य के परवर्ती वैष्णव आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रों पर रचित अणुमाभाष्य में बड़े व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किये हैं। विषय की स्पष्टता के लिये उन पर एक दृष्टि डाली जा सकती है। पूर्वपक्षी एक और शंका उपस्थित करते हैं कि ब्रह्म सृष्टि से विलक्षण होने के कारण सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। ब्रह्म चेतन, निर्दोष, ज्ञानात्मक है, उसके लिए जड और मोहात्मक तुच्छ जगत् का और अज्ञत्व दुःखित्व आदि अर्थों से युक्त जीव का कारण होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उनसे विलक्षण है जैसे तन्तु कभी घट का कारण नहीं हो सकता। ब्रह्म को जगत् का समवायिकारण स्वीकार करने वाले आचार्य इस तथाकथित अनुपपत्ति का उत्तर **'दृश्यते तु' (वे0सू0 2.1.6)** के आधार पर देते हैं। जगत में कारण और

---

1 "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् "
उभयोर्ग्रहणमुपचारव्यावृत्त्यर्थम्, उपक्रमोपसंहारवत्।" -अणु.भा. 1/4/23

2 कार्यस्यैवमवस्थाविशेषविशिष्टकारणरूपत्वे ज्ञाते सति यत्र क्वचित्कार्ये केनचिदवस्थावैशिष्ट्येन भगवान् ज्ञातः सर्वत्र कार्ये तत्तदवस्थाविशिष्टत्वेन ज्ञातो भवति, सर्वं च कार्यं तदभिन्नत्वेन ज्ञातं भवतीति।।" अणुभाष्य 1.4.23 भा. प्र.

कार्य का ऐसा सम्बन्ध भी देखा जाता हैं जहाँ दोनों परस्पर विलक्षण होते हैं, जैसे चेतन्त्वविशिष्ट देह से अचेतन केश तथा अचेतन गोमय से चेतन वृश्चिकादि की उत्पत्ति होती है। चेतन से अचेतन की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव मानने पर तो चेतन के ही अंश-विशेष अचेतन का निषेध हो जाएगा।[1]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में एक और समस्या का समाधान करते हुए ब्राह्मार्थ कहते हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं- ब्रह्म परिणामवाद के समर्थन में, केश नख के वर्धन एवं वाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था के बुद्धिगत परिवर्तन को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है वे चेतन के विकार है और अचेतन हैं, किन्तु केश, नख एवं शरीर वृद्धि आदि सभी शरीर की ही सृष्टि है न कि जीवात्मा की। जीवात्मा का उससे किसी प्रकार का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध नहीं है। युवा एवं वृद्धावस्था में उपलभ्य बुद्धि-वृद्धि आदि दृष्टिगत शरीर के ही धर्म हैं। आत्मा की अवस्थिति मात्र यहाँ अपेक्षित हैं बुद्धि की वृद्धि में आत्मा उपादान के रूप में हो यह सम्भव नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर ब्रह्म परिणामवादियों को स्वीकार करना चाहिए कि ब्रह्म का भौतिक भाग, भौतिक जगत् का उपादान बनता है, एवं उसका चित् भाग क्रियाशील होने के कारण क्रिया का सम्पादन करता है।

मध्व कहते हैं - कि परिणाम केवल निमित्त कारणवाद में होगा, क्यों कि भौतिक उपादान के रूपमें ब्रह्म को मानना सम्भव नहीं होगा और केवल चित् तत्त्व जो निमित्त कारण है। वही ब्रह्म के रूप में ग्रहीत होगा।[2] कोई भी परिणामवादी आचार्य शुद्ध प्रकृति स्वतंत्र रूप से नहीं मानता जिसे साहित्यिक एवं आलंकारिक प्रयोग में ब्रह्म का शरीर कहा जा सके। जीव के अतिरिक्त जगत् को भी ब्रह्म का परिणाम मानने वाले वेदान्तानुयायी विचारक भास्कर ही हैं। भास्कर और वल्लभ दोनों ब्रह्म का साक्षात्परिणाम स्वीकार करते हैं।, किन्तु यह भी स्वीकार करते हैं कि अपने विश्व रूप परिणाम से वह निश्शेष नहीं हो जाता, अपितु अपने विश्वात्मकरूप से अतिरिक्त, अतीत और अपरिच्छिन्न भी रहता हैं यह कूटस्थ और अविकारी ब्रह्म ही आराध्य और उपास्य है। ब्रह्म अपने कार्यरूप जगत् से परिच्छिन्न नहीं है, अपितु जगत ही ब्रह्म से परिच्छिन्न और

---

1 ''दृश्यते हि कार्य कार्यकारणयोर्वैरूव्यम्। केशगोमयवृश्चिकादौ चेतनादचेत-नोत्पत्तिनिषेधे तदशस्यैव निषेधः। - अणु भा. 2.1.6

2 मध्व - 'भागेन परिणामश्चेत् भागयोभेद एव हि।
यो भागो न विकारी स्यात्स एवास्माकमीश्वरः।।' -अनुत्याख्यान, पृ. 93

नियमित हैं इसका कारण यह है कि कार्यभूत जगत की अपने कारण ब्रह्म से निरपेक्ष कोई सत्ता नहीं है, जब कि ब्रह्म अपनी सत्ता और सत्यता के लिए जगत की अपेक्षा नहीं रखता।

इस प्रकार सृष्टि की निर्मिति में ब्रह्म का एक मात्र प्रयोजन लीला ही है। **''लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'' (के0सू0 2.1.33)।**

सृष्टि की सत्यता - मध्व-मत में स्वीकृत जगत् वास्तविक है, और जब वह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम ही है तब उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता है। जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान एवं श्रुति के द्वारा स्थापित की गयी हैं। सामान्यतः इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान सत्य एवं प्रामाणिक माना जाता है। वेदानत के प्रायः सभी मतों में ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। अतः प्रामाण्य के साथ ही जगत् का सत्यत्व भी सम्बद्ध हैं। प्रामाण्य विषय के बाधित होने के बाद नहीं रहता।[1]

'एकोऽहं बहुस्याम्' तथा **'प्रजायेयं'** श्रुतियों के द्वारा कार्यरूप जगत् का भगवद्रूपत्व और सत्यत्व सिद्ध किया गया है। अथवा कहीं कहीं विकार वाणी मात्र में स्थित है - इस प्रकार कार्याश को अनादृत कर वस्तुस्वरूप से विचार करते हुए ''जगत् सत् मात्र है'' ऐसा ही प्रतिपादित किया गया है। कार्यभाव को अनादृत करने वाले पक्ष में भी कोई दोष नहीं हैं। जिस प्रकार सुवर्ण की इच्छा रखने वाला व्यक्ति स्वर्ण आभूषणों को सुवर्ण रूप से ही ग्रहण करता है, कटक कुण्डल रूप से नहीं, उसी प्रकार वस्तुस्वरूप से विचार करते हुए अधिकारी को जब अखण्ड अद्वैत का बोध होता है, तो वह समस्त जगत् को ब्रह्मरूप से ही ग्रहण करता है, विकल्प अथवा वस्तुरूप से नहीं। यहाँ विकल्पबुद्धि ही नष्ट होती है, विकल्प नहीं, अर्थात् स्वरूपतः घट-पट आदि नष्ट नहीं होते, उनका ज्ञान घट-पट रूप से नहीं अपितु ब्रह्मरूप से होने लगता है, इस प्रकार यह सृष्टि मिथ्या नहीं अपितु सत्य ही दृष्टिगोचर होती है।

अद्वैत मत अद्वय रूप में केवल ब्रह्म की ही सत्ता अन्ततः स्वीकार करता है, स्वभावतः उस मत में जगत् की सत्ता हीन मानी ही जानी चाहिए। मृत्तिका के अतिरिक्त घटादि वास्तव में सत् नहीं है।[2] जगत् की सत्ता का

---

1 त्यासतीर्थ - 'न हि विषयावाधमनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नाम।'' न्यायामृतम्, पृ. 142।

2 शंकर विवेक चूडामणि, श्लोक सं. 231

अबाध्य प्रमाणीकरण, निश्चितरूप से ब्रह्म की अद्वयता का बाधक होगा।[1] यदि जगत् सत्य है तो उसे ब्रह्म से भिन्न, दूसरी सत्ता के रूप में मानना होगा। इस प्रकार शंकर सृष्टि की सत्ता व्यावहारिक स्तर पर ही स्वीकार करते हैं, इसे परमार्थ सत्य नहीं मानते हैं।

आचार्य मध्व शंकर के इस मायावाद का विरोध करते हुए कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्म ही अपनी कार्यकरण सामर्थ्य रूप माया शक्ति से इस अचिन्त्य रचनात्मक सृष्टि की रचना करता है, अतः सृष्टि को भ्रमात्मक नहीं कह सकते हैं।

सृष्टि मिथ्यात्व का खण्डन - जगत् की सत्ता के प्रश्न पर शंकर और मध्व में जो मतभेद है, उसे संक्षेप में प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में शंकर सम्मत विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् मध्वकृत खण्डन सूचित करना न्याय संगत होगा।

गौड़पाद ने अपने कारिकाओं में 'जगत मिथ्यात्व' को प्रबल युक्तियों से स्थापित किया हैं उन्हीं के तर्कों का परवर्ती विचारकों ने भी उपयोग किया है।

गौड़पद कहते हैं- क्या जाग्रत अवस्था में उपलब्ध जागतिक अनुभूति सत्य है? तब उसे 'सत् ' की इस परिभाषा, कि सत् अविरोध्य होता है, से सिद्ध होना चाहिए किन्तु जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में ग्राह्य विषय बाध्य होते हैं। केवल तुरीयावस्थागत का बोध अबाधित प्रमाणित होता है। इसी अवस्था के आधार पर जाग्रत अवस्था का बोध बाधित प्रमाणित होता है।[2] जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वप्न बोध मिथ्या प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार से स्वप्नावस्था में समस्त जाग्रत अवस्था गत बोध मिथ्या हो जाते हैं।[3] इस प्रकार अनुभव का विषयत्व, विषय-विषयिगत द्वैत के आधार पर जगत सत्यत्व का खण्डन गौड़पाद ने किया है। स्वप्न एवं जाग्रत प्रतीतियाँ मायाकृत होने से मिथ्या है।

शङ्कराचार्य ने अनुमान के रूप में उक्त तर्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

1. जाग्रत अवस्था के विषय मिथ्या है - प्रतिज्ञा
2. क्यों कि वे दृश्य हैं - हेतु

---

1 वही श्लोक सं. 234

2 गौड़पाद - माण्डूक्य कारिका 1/15

3 गौड़पद - माण्डूक्यकारिका 2/46

3. स्वप्न- अनुभव के विषयों के समान - उदाहरण
4. जाग्रत अवस्था के विषयों की दृश्यरूपता स्वप्न- विषयों की दृश्यता के समान है और स्वप्नगत विषयों का मिथ्या होना पूर्व प्रमाणित है - उपनय
5. अतः जाग्रत-अवस्था के विषयों का बोध भी मिथ्या है[1]- निगमन।

उक्त अनुमान का खण्डन करते हुए मध्व कहते हैं - अद्वैत मतानुयायी विद्वान स्वप्न एवं भ्रम आदि के साम्य पर जगत् का मिथ्यात्व प्रमाणित करते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष की सत्ता केवल वर्तमान क्षणों में ही सीमित रहती है। ऐसी दशा में स्मृति आदि सभी का क्षेत्र समाप्त हो जाएगा। केवल अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष को बाधित करना अनुचित है। स्वप्नगत अनुभूतियों को शंकर ने गौडपाद का अनुसरण करते हुए मिथ्या माना है।[2] स्वप्न में देखे गये विषय कोई भौतिक स्वरूप नहीं रखते। न तो वे स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न है और न अभिन्न। यदि स्वप्न विषय होते तो वे ही विषय दूसरों को भी दृष्टिगोचर होते। यदि उन्हें अभिन्न माना जाय, तब इतने रूपों में उसकी अभिव्यक्ति कैसे?

आचार्य मध्व 'जगत् का मिथ्यात्व' स्वप्न के आधारपर ग्रहण करने के कारण शंकर के इस मत को स्वीकार नहीं करते कि स्वप्न मिथ्या है। स्वप्न में दृष्ट सुख-दुःख की अनुभूति जाग्रत अवस्था में भी होती है। साथ ही यह प्रश्न कि स्वप्न द्रष्टा से वे भिन्न हैं कि अभिन्न माध्व मत में महत्त्व नहीं रखता, क्यों कि सम्पूर्ण स्वप्न-विषय ईश्वर के द्वारा जीव में उत्सृष्ट है। उसी सर्वशक्तिसम्पन्न की इच्छा से वे नष्ट भी हो जाते हैं। स्वप्नगत विषयों के बोध के प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है कि कोई द्रष्टा अपने भौतिक शरीर से निकलकर उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करे। यह बोध मन से ही प्राप्त किया जा सकता है।[3] स्वप्न वासना-जन्य है, यह तो शंकर भी स्वीकार करते हैं।[4] वासना को स्वप्न-विषय के उपादान के रूप में ग्रहण करने से तद्गत यथार्थता के द्वारा अनेक विरोधों का समाधान हो जाता है। यही कारण है कि शंकर यह मानने को बाध्य है कि स्वप्नगत विषयों को तो मिथ्या कहा जा सकता है, किन्तु स्वरूपतः विषयों को

---

1 शंकर माण्डूक्यमारिका, भाष्य 2/4
2 गौडपाद कारिका 2/1-6, ब्र.सू. शांकर भाष्य 3.2.3
3 जयतीर्थ - यदि ब्राह्यकारणकाः स्वप्नविषयाः तदा सम्यगभिव्यज्येरन। न चैवम्। अतः संस्कारोपादानिका एवेति भावः। .... तत्वप्रदीप 3.2.3
4 शांकर जाग्रतप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नवस्य। ब्र.सू.भा. 3.2.6

नहीं क्यों कि जाग्रत दशा में तो उनकी उपलब्धि होती ही है।[1] मध्व और आगे बढकर जीव के मन में रहने वाले संस्कारजन्य स्वप्न विषयों को भी सत् मानते हैं।[2] ये बाह्य कारणों से उत्पन्न नहीं होते केवल वासनात्मक हैं इसलिए मध्व ब्रह्मसूत्र में प्रयुक्त मायामात्रम् पद का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि वासना इनकी उपादान कारण एवं ईश्वर निमित्त कारण है। जयतीर्थ के अनुसार यदि यहाँ केवल वासना का मुख्य अर्थ में प्रयोग करते, तो ईश्वर की प्रज्ञा का ग्रहण न हो पाता। दोनों का पृथक-पृथक उल्लेख विस्तार का कारण बनता, अतः मुख्य और अमुख्य दोनों की ही विवक्षा की दृष्टि से 'मायामात्रम् ' का उल्लेख किया गया।[3] वासना के कारण के रूप में रहने से इनमें बाह्य अर्थो के समान अर्थक्रियाकारित्व नहीं है[4] किन्तु इसके कारण उनकी यथार्थता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता। स्वप्नगत विषयों का मिथ्यात्व उन विषयों में नहीं, अपितु उनको जाग्रत पदार्थ के रूप में ग्रहण करने में है, जब कि दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं। जगत् मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए दूसरा उदाहरण एजु में सर्प के भ्रम को देते हैं। उसमें भी अर्थक्रियाकारित्व होने से, उसकी भी सत्ता माननी होगी।[5] भ्रम का अभिप्राय वस्तु में अवस्तु का आरोप हैं यदि यह आरोप यहाँ मिथ्या हो तो भी अन्यत्र सर्पप्रतीति सत् है। जिस प्रकार भ्रमरूपा सर्पप्रतीति से भिन्न वास्तविक सर्पप्रतीति होती है। ऐसी दशा में दो जगत् की सत्ता माननी होगी। एक भ्रमात्मक दूसरा वास्तव, जिसके आधार पर भ्रम हुआ। जयतीर्थ के अनुसार ऐसी स्थिति में जो, ज्ञात या सत्य है उसकी ही सत्ता क्यों न मान ली जाए।[6]

---

1 शंकर -यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पनोदकरस्नानादिकार्यज्ञातमनृतम्, तथापि तदवगतिः सत्यमेव। ब्र.सू.भा. 2.2.14

2 जयतीर्थ- ''भावनापरनामकाः संस्काराः। अनाद्यनुभवप्रवाहोत्पन्नाः। संस्कारैरिप्युपादान-कीर्तनम्। न च तेषां गुणत्वेनोपादानप्वानुपपत्तिः मनोवृत्तित्वेन द्रव्यत्वात्। संस्काराणां चातीन्द्रियत्वेन नयणुकजन्म विनाशयोरिव प्रागूर्ध्व चानुपलम्भो न दोषाय। न्यायसुधा, पृ. 460

3 जयतीर्थ - यदि च वासनामात्रमिति मुख्यप्रयोगः क्रियेत, तदा ईश्वरप्रज्ञा न संग्रहीता स्यात् पृथगुभयग्रहणे गौरवं स्यात्। अतोमुख्यामुख्यवित्रत्यो भयग्रहणाय मायामात्रमित्युक्तम्। न्यायसुधा, पृ. 464

4 जयतीर्थ - तेषां तथा बाह्यवत् क्वचित् स्पष्टता बाह्यार्थक्रियाकारिता नास्ति। न्यायसुधा, पृ. 499

5 मध्व- सर्पभ्रमादावपि हि ज्ञानमस्त्येव तादृशम्। तदेवार्थक्रियाकारि। -अनु. व्या. पृ. 67

6 जयतीर्थ - ''सत्यजगद्द्वयांगीकारात् अस्यैव जगतः सत्यत्वांगीकारस्य लघुत्वात्। वादावली, पृ. 53

आचार्य मध्व साक्षि-चैतन्य के आधार पर ही जगत् का सत्यत्व प्रमाणित करते हैं फिर भी इस मत ने श्रुति के द्वारा भी जगत् का सत्यत्व प्रतिपादित किया हैं अनेक श्रुतिवाक्य इस सन्दर्भ में उद्धृत किए गये हैं।[1] मध्व कहते हैं- जिन उदाहरणों के द्वारा शंकर जगत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं, उन्हीं उदाहरणों से हम जगत् को सत् सिद्ध कर देते हैं। जो किसी वस्तु विशेष से विलक्षण को जान लेता है वह उसके स्वरूप को जान ही लेता है जैसे देवदत्त को घट से विलक्षण पट का ज्ञान हो गया तो, अनुमानतः उसका घट ज्ञानयुक्त होना सिद्ध हो गया।[2] यदि जगत् 'असत् ' विलक्षण ज्ञात हो गया तो उसका सत्त्व तो स्वतः ग्रहीत हैं। किसी भी वस्तु की सत्ता उसकी अर्थक्रिया- कारिता से ही निश्चित होती है। जगत् में अर्थक्रियाकारित्व है, अतः वह सत् है।

सृष्टि के ब्रह्मात्मक होने के कारण उसे मिथ्या और अनित्य नहीं कहा जा सकता है। यदि सृष्टि ब्रह्म का आभास, प्रतिबिम्ब या मायाजन्य भ्रम होती तो उसे मिथ्या या भ्रमात्मक स्वीकार किया जा सकता था, किन्तु जब हम यह मानकर चलते हैं, कि सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम हैं, तो उसे मिथ्या स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

सत्कार्यवाद- असत्कार्यवाद - कारण से कार्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं- असत्कार्यवाद एवं सत्कार्यवाद। असत्कार्यवाद के अनुसार- कार्य उत्पत्ति के पहले अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य एक नवीन उत्पत्ति है। इस सिद्धान्त को आरम्भवाद भी कहा जाता है अर्थात् उत्पन्न होने के पूर्व घड़ा मिट्टी में विद्यमान नहीं है। इसके विपरीत सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने के पहले अपने कारण में विद्यमान है। कारण-व्यापार के पूर्व कार्य अपने कारण में अव्यक्त रूप से रहता है। नैयायिक असत् कार्यवादी है जबकि सांख्य एवं वेदान्ती सत्कार्यवाद में विश्वास करते हैं। सत्कार्यवाद के दो रूप है- 1. परिणामवाद 2. विवर्तवाद।

परिणाम और विवर्त - मध्व के द्वैतवाद में परिणामवाद को स्वीकार किया गया है। परिणामवाद का आधार यह है कि ब्रह्म ही प्रारम्भ में था, उस

---

1 ऋग्वेद 2.15.1, 2.24.6-7, 7-810/55/6, बृ. उप. 3.7.13, मुण्डकोपनिषद 3.1.12, कठोप. 2.2.13, ईशो. 3

2 जयतीर्थ - यो यद्विलक्षण प्रत्येति स तत्प्रतीतिमान् यथा घटविलक्षणः पट इति प्रतीतिमानदेवदत्तो घटप्रतीतिमान् इत्यनुमानात् । न्यायसुधा, पृ. 57

समय अन्य कोई तत्त्व स्थित नहीं था। ब्रह्म ही स्वेच्छा से इस जगत् के रूप में स्वतः को उद्भूत कर देता है।

परिणामवाद- परिणामवाद के अनुसार- कार्य कारण का वास्तविक परिवर्तन है। 'दही' (कार्य) 'दूध' (कारण) का वास्तविक परिवर्तन है। परिणामवाद कार्य को कारण का परिणाम मानता है, कार्य, कारण का यथार्थ रूपान्तर है। मिट्टी से बना घड़ा मिट्टी का वास्तविक रूपान्तर है। जिस प्रकार मिट्टी वास्तविक है उसी प्रकार घड़ा भी वास्तविक है। अतः परिणामवाद के अनुसार-कार्य और कारण दोनों सत्य है।

मध्वाचार्य परिणामवाद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- जगत् प्रकृति का वास्तविक विकार या परिणाम है। उपादान कारण प्रकृति में स्वरूपतः परिणाम होता है, अर्थात् प्रकृति का कार्य यह दृश्य जगत् है।

परिणामवाद इस प्रकार है- कुछ दृश्य- जैसे दूध-दही के रूप में स्वरूपतः विकृत होते हैं, किन्तु नित्य-पदार्थो में स्वरूपतः नहीं, बल्कि पराधीन विशेषाप्ति-रूप परिणाम ही होता है। अपूर्वोपजनन या तत्त्वान्तर परिणाम अनित्य द्रव्यों में जैसी मिट्टी, दूध आदि में होता है। नित्य-पदार्थ जैसे प्रकृति, आत्मा, काल आदि में पराधीन विशेषाप्ति रूप परिणाम होता है।[1]

विवर्त्तवाद - यह मत अद्वैत-वेदान्त का है। विवर्तवाद के अनुसार कारण में जो विकार परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं, एक आभासमात्र है। रस्सी देखने से सर्प का आभास होता है तो रस्सी यथार्थतः सर्प में परिणत नहीं हो जाती, रस्सी में केवल सर्प की प्रतीति मात्र होती है, सर्प की सत्ता उसमें नहीं आ जाती। इसी प्रकार जो नानाविकार हमें परिलक्षित होते हैं वे भ्रम या आभासमात्र है। यथार्थतः ब्रह्म का रूपान्तर नहीं होता। वह शाश्वत रूप से एक- सा बना रहता है, फिर भी हमें वह नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में बदलता हुआ सा मालूम पड़ता हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार- कारण सत् है जब कि कार्य प्रातीतिक हैं। अतः इस मत के अनुसार कार्य-कारण का वास्तविक रूपानतर नहीं, बल्कि विवर्त्त मात्र है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में एक आक्षेप का समाधान आवश्यक हो जाता है जो मध्वचार्य पर लगाया गया है। भास्कर मतानुयायी कहते हैं- ब्रह्मपरिणामवाद को मान लेने पर जगत् के दुःख-कष्टादि को भी उसी का परिणाम मानना होगा?

---

1 पराधीन विशेषाप्तिरूत्पत्तिः ईशादन्यस्य सर्वस्य- न्यायसुधा

ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने परिणमन करते समय सह सब क्यों उत्सृष्ट किये? साथ ही ईश्वर का यह परिवर्तित रूप उसका स्वभाव होगा अथवा उसकी परिणामिति यदि कारण चेतना है तो उसका विकार अचेतन रूप में कैसे प्राप्त हुआ? उसे भी चेतन होना चाहिए था, क्यों कि अचेतन का विकार कभी भी चेतन नहीं होता।[1]

मध्व परिणामवादी भास्करमतानुयायी आचार्य का यह मत अस्वीकार करके इसका समाधान इस प्रकार करते हैं - शुद्ध चैतन्य के इस प्रकार के परिणमन को किसी भी श्रुति के द्वारा संगत नहीं बताया जा सकेगा। श्रुति ने कहीं भी स्पष्टतः यह प्रतिपादित नहीं किया कि चेतन, अचेतन बन जाता है। ब्रह्म के जीव रूप में व्यक्त होने के बाद भी, श्रुति में उसे अक्षरशः शुद्ध ही कहा गया है। मूल कारण में परिवर्तन रूप धर्मों की कल्पना किए विना, कार्य सिद्धि के अभाव में मूल कारण मानना भी सम्भव नहीं होगा। वे परिवर्तन (जडत्वादि) मूल कारण में स्थित नहीं माने जा सकते हैं।

परिणामवाद के विरोध में एक और शंका उठायी गयी है कि यदि वास्तविक परिणाम स्वीकार किया जाय तो ईश्वर के स्वयं जड़ादिरूप से परिणत होने पर जगत् के सभी दोषों, और अपूर्णताओं से ईश्वर भी दूषित होगा, यह भी सम्भव नहीं है कि ईश्वर एक अंश से परिणमित हो, एक से न हो।

रामानुज ने इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है- ईश्वर, चित् और अचित् इन तीन सत्ताओं में चित्त और अचित्त ब्रह्म से नियमित और उस पर आश्रित सत्ताएं हैं। रामानुज के अनुसार-समस्त परिणमनक्रिया ईश्वर के शरीरभूत इन चित् और अचित् अंशों में ही होती है तथा वह इनके अन्तर्यामी रूप में नित्य अविकारी तथा अपरिणामी ही रहता है।

शंकर का मत ब्रह्मविवर्तवाद के नाम से विख्यात है। वे मानते हैं कि कार्य कारण से भिन्न नहीं रह सकता। सोने के आभूषण सोने से भिन्न नहीं रहता, इसी प्रकार यह विश्व भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह ब्रह्म में ही हैं किन्तु ब्रह्म विश्व रूप में परिवर्तित नहीं होता। ब्रह्म में विश्व प्रतीत होता हैं ब्रह्म शुद्ध, चेतन, अविकारी है, जब कि विश्व के लक्षण उसके विपरीत हैं अतः विश्व ब्रह्म

---

1 मध्व - न चेतनविकारः स्याद्यत्र क्वापि ह्यचेतनम् ।
नाचेतनविकारोऽपि चेतनः स्यात्कदाचन।।'' - अनुव्याख्यान, पृ. 10

पर अध्यारोपित है।[1] शंकर इस जगत् की तुलना ब्रह्म से करते हैं तो ब्रह्म की तुलना में जगत् मिथ्या सिद्ध होता है, क्यों कि ब्रह्म निरपेक्ष सत् है, निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ और अनन्त है। इसलिए शंकर ब्रह्म को पारमार्थिक सत् कहते हैं। **एकमेव हि परमार्थसत्य ब्रह्म**[2] अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य हैं ''**पारमार्थवस्यायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे**[3] अर्थात् परमार्थ अवस्था में सभी वेदान्त समस्त व्यवहार का अभाव कहते हैं। न ''**परमार्थ-चिन्तकानां सृष्टावादरः**''[4] - परमार्थचिन्तन करने वालों का सृष्टि के विषय में आदर नहीं है।

सृष्टि-ब्रह्म की सापेक्ष स्थिति - सृष्टि और ब्रह्म की सापेक्ष स्थिति का सम्बन्ध मध्व सांख्य की भाँति स्वीकार करते हैं। मध्व कहते हैं - सृष्टि के पूर्व यह समस्त कार्यजात सूक्ष्मावस्था या कारणावस्था में वर्तमान था और भगवदिच्छा होने पर इन विविध रूपों में प्रकट हुआ। कार्यभूत सृष्टि ब्रह्मात्मक होने से सत्य और नित्य है। मध्वाचार्य के द्वारा परिणामवाद स्वीकार करने के कारण जगत् को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम मानते हैं और जगत् को सत् और ब्रह्म रूप स्वीकार करते हैं।

मध्वाचार्य के अनुसार- जो सृष्टि और प्रलय का वर्णन है वह वास्तविक हैं ईश्वर के ईक्षण से हुई सृष्टि को काल्पनिक या मिथ्या नहीं, अपितु पारमार्थिक ही मानना पड़ेगा। आचार्य मध्व जगत् के उपादान कारण प्रकृति को, एक पारमार्थिक तत्त्व मानते हैं, तो उसका विकार मिथ्या या असत् कैसे हो जाएगा? ब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रकृति से साक्षात् या परम्परया जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी है। प्रकृति जड़, नित्य, परिणामी तत्त्व है। काल, तीनों गुण, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएं, महाभूत आदि उसके विकार हैं। महत् , अहंकार आदि की परम्परया और काल तीनों गुण आदि की साक्षात् उत्पत्ति होती है। प्रकृति की साम्यावस्था का नाम प्रलय हैं अहंकार, मन, बुद्धि, चित्त आदि अनित्य दृव्य माने गये हैं। तथा नित्य मन या इन्द्रिय ही साक्षी है।

---

1 विवेक चूडामणि, 233
2 तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा. पृ. 171
3 ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.1.14, पृ. 370
4 गौडपादकारिका, शा.भा. 1.7 पृ. 47

मध्व कहते हैं- ब्रह्म चैतन्य- स्वरूप है, परन्तु निर्गुण नहीं, अविकारी है, उपादान कारण नहीं यह केवल निमित्त कारण हैं वह ईश्वर अपनी माया या इच्छा से जगत् की सृष्टि करता हैं। श्रुतिवाक्यों **''सर्व खल्विदं ब्रह्म''** या **''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म''** इत्यादि का तात्पर्य यह है कि जगत् में वह व्याप्त है। एकरूपतः भिन्न होते हुए भी जगत् की सत्ता और प्रतीति ब्रह्म के अधीन है।[1]

सृष्टि-प्रक्रिया - उपनिषदों के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।[2] सत् के पूर्व असत् होने की सम्भावना का निषेध किया गया है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् ही ब्रह्म है। **वह ''निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जजनम् ''**[3] अर्थात् निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निर्लेप है और **''दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सनाह्याभ्यन्तरो ह्यजः''**[4] अर्थात् दिव्य, अमूर्त, बाहर भीतर वर्तमान और अजन्मा है। उसने - 'ईक्षण' किया और नामरूपात्मक जगत् का विस्तार किया, सत् स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त सृष्टि की उत्पत्ति में कोई सहयोगी कारण नहीं है। संक्षेप में जगत् की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है-

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोसृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदयोऽसृजत।
ता आप ऐक्षन्त बहत्यः स्याम प्रजायेमहीति ता।
अन्नमसृजन्त। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि।
. . .. . अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।

अर्थात् उस सत् ने ईक्षण किया 'मै बहुत हो जाऊॅ '' अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊॅ इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेज ने ईक्षण किया ''मैं बहुत हो जाऊॅ - नाना प्रकार से उत्पन्न होऊॅ'' - इस प्रकार ईक्षण कर उसने जल की रचना की। उस जल ने ईक्षण किया। हम बहुत हो जायॅ- अनेक रूप से उत्पन्न हों। उसने अन्न की रचना की। उनमें से एक-एक देवता को त्रिवृत करूॅ, एंसा विचार कर उस देवता ने इस जीवात्मरूप से ही उन तीन देवताओं में अनुप्रवेश कर नामरूप का विस्तार किया।

---

1 स्वनियतसत्ता शक्तादि माङ्क्खे कारणैः इदं जगत्सदा करोति। -न्यायसुधा, पृ. 299

2 छोन्दोग्य उपनिषद 6.2.1

3 श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.19

4 मुण्डक उपनिषद् 2.1.2

इसी क्रम से समस्त लोक- लोकान्तर और जराजुज आदि चार प्रकार के जीवों की रचना हुई। लगभग सभी उपनिषदों में कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से, सृष्टि का यही क्रम स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सृष्टि का प्रारमभ सत् के ईक्षण से होता है और जैसे जैसे नामरूप व्यक्त होते हैं उनमें वह सत् व्याप्त, होकर जीवभाव उत्पन्न करता है और उसमें पुनः ईक्षण क्रिया' होती है और सृष्टि आगे बढ़ती है।

सृष्टि की उत्पत्ति जानने के पश्चात् सृष्टि प्रक्रिया का प्रसंग उपस्थित होता है। मध्वाचार्य प्रकृति से सृष्टि-प्रक्रिया स्वीकार करते हैं। प्रकृति से भौतिक सृष्टि की मान्यता को उन्होंने स्थान दिया है। मूल वस्तु में भले ही स्थूल भूतों के रूप में विकार होता रहे, किन्तु वह तत्त्व मूलतः उपस्थित रहता ही है। इससे इन कार्यों के भौतिक विषयत्व को भी स्थिरता प्राप्त होती है।[1] वे भिन्न भिन्न परिणाम युक्त प्रकृति की सत्ता स्वीकार करते हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि प्रकृति की सिद्धि तर्काश्रित न होकर उपनिषद प्रतिपाद्य है। यह अनादि प्रधान हैं सूक्ष्म महाभूत के नाम से पुकारी जाती है।[2]

द्वैतवाद में प्रकृति ही साक्षात् और परम्परया सृष्टि का कारण है, यह मानकर सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। साक्षात् यह काल एवं सत-रज-तम गुणों के कारण हैं। महत् अहंकार आदि की परम्परया कारण हैं यह नित्य और व्यापी है। यह सीमित नहीं है। मध्वाचार्य की सृष्टि-प्रक्रिया का सिद्धान्त सांख्य सम्मत ही हैं। सृष्टि के प्रारमभ में ही त्रिगुण एक निश्चित अनुपात में विभाजित होते हैं।[3] इन तीनों का पारस्परिक संघर्ष चौबीस तत्त्वों की सृष्टि करता है। महत् अहंकार, बुद्धि, मन दशेन्द्रियसमुदाय, पाँच इन्द्रिय विषय एवं पॉच स्थूलमहाभूत। महत् प्रकृति का प्रथम एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। अहंकार वैकारिक, तैजस एवं तामस इन तीन रूपों में विभाजित है। तैजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ एवं तामस अहंकार से महाभूत उत्पन्न हुए। प्रकृति के इन चौबीस तत्त्वों से ब्रह्माण्ड बना है। ये सभी तत्व मध्व ने तत्तदभिमानी देवताओं से सम्बद्ध माने है। ईश्वर या ब्रह्म इन सबके मूल में परमाधार के रूप में है। वही

---

1 जयतीर्थ- ''तदेव हि वस्तु अवयवोपचयापचयाभ्यामन्यथा विक्रियते, न पुनरन्यदेव भवतीति परिणामवादिनो मन्यन्ते। अतः प्रत्यक्षभोग्येषु सर्ववस्तुषु प्रत्यभिज्ञया स्थिरत्वग्रहणं युक्तमेव।'' - न्यायसुधा, पृ. 394

2 अनोदरूपादानस्य भूतसूक्ष्मशब्दाभिधेयस्यप्रधानत्वात् । न्यायसुधा, पृ. 390

3 मध्व - भा.ता., पृ. 24

विविध शक्तियों को प्रबोधित करते हुए सम्पूर्ण क्रियाओं को सम्पादित करता है।[1] श्री, भू, एवं दुर्गा इन तीन रूपों से नियमित त्रिगुण अपना कार्य सम्पादन करते हैं। सृष्टि का काल, लय के काल का आठवाँ भाग माना गया है।[2] सभी तत्त्वों के अपने कारणभूत तत्त्व में विलीन होने को 'लय' कहा गया है। यही स्थिति तत्त्वाभिमानी देवों की भी है।

वह तीन गुणों की भी जननी है- गुणत्रयाधुपादानभूता मध्वाचार्य कहते हैं- महासृष्टि रचना के समय केवल 'प्रकृति' का ही अस्तित्त्व था, अन्य किसी वस्तु का नहीं। उस समय ईश्वर ने अपनी सृजनात्मक इच्छा से 'प्रकृति' में से तीन समूहों में सत्व, रजस् और तमस् को उत्पन्न किया है।[3]

सृष्टि-प्रक्रिया के वर्णन में तीनों गुणों का अपना अलग ही महत्त्व हैं। द्वैतवाद में इनका स्वरूप क्या है? आचार्य मध्व इस प्रकार बताते हैं- 'रजस्' 'तमस' से दुगुना होता है और 'सत्व' 'रजस्' से दुगुना होता हैं 'सत्व' अपने विशुद्ध रूप में स्थित रहता है। रजस् एवं तमस् सदा एक दूसरे में तथा सत्व में मिश्रित रहते हैं। इस प्रकार 'सत्व' न केवल विशुद्ध रूप में अस्तित्व रखता है बल्कि मिश्रित रजस् एवं मिश्रित तमस् के अंश के रूप में भी अस्तित्व रखता है।

मिश्रित रजस् में रजस् के प्रत्येक भाग के लिए सत्व के सौ भाग और तमस् का सौ वॉ भाग उपस्थित रहते हैं। मिश्रित तमस् में 'तमस्' के प्रत्येक भाग के लिए 'सत्व' के दस भाग और रजस् का दसवाँ भाग होते हैं। जगत् के 'विलय' के समय दस भाग 'सत्व' में लौट जाते हैं और एक भाग 'रजस् ' में तथा एक भाग 'तमस्' में रह जाता है।

सृष्टि क्रम - तीनों गुणों की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् जब उत्पन्न हुए रजस् की सम्पूर्ण राशि का तमस् में मिश्रण हो जाता है। तब 'महत् - तत्त्व ' की उत्पत्ति होती है। 'महत्-तत्त्व ' रजस् के तीन भागों एवं तमस् के एक भाग से निर्मित होता है। इसके पश्चात् 'अहंकार में सत्व के प्रत्येक दस भागों के लिए रजस् का एक भाग तथा तमस् का दसवाँ भाग होता है। उस तमस् भाग के सत्व से 'मनस' आदि उत्पन्न होते हैं।

---

1 मध्व- तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन् ।
एक एव महाशक्तिः कुरूते सर्वमंजसा।।'' - ब्रह्मसूत्रभाष्य 1.1.3

2 मध्व लयस्य त्वष्टमो भागः सृष्टिकाल उदाहृतः। -मा.ता., पृ. 61

3 मध्वसिद्धान्तसार पृ. 36

रजस् भाग से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।

तमस् भाग से महाभूत उत्पन्न होते हैं।

वे प्रारम्भ में तन्मात्राओं अथवा महाभूतों में अन्तर्निहित एवं अभिव्यक्त शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं।

इस गणना के अनुसार मध्वाचार्य द्वारा स्वीकृत महत् से लेकर चौबीस पदार्थ इस प्रकार हैं- महत् , अहंकार, बुद्धि, मनस्, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, पंचभूत।[1]

अहंकार वह है जिसके व्यापारके द्वारा असत् को सत् समझ लिया जाता है। बुद्धि वह है जिसके कारण किसी निश्चय पर आने का व्यापार होता है- निश्चयात्मिका बुद्धि। मनस् वह है जिसके कारण संकल्प और विकल्प होते हैं।

इन्द्रियाँ- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ

मध्ववाद में 'तन्मात्राओं' को पाँच स्थूलभूतों की सूक्ष्म सामग्री के रूप में स्वीकार किया जाता है।[2]

इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया के अन्त में हम यह कह सकते हैं कि मध्व के द्वैत मत में जगत् की सृष्टि-प्रक्रिया का सिद्धान्त साङ्ख्यानुवर्ती हैं अने समर्थन में महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणों से उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। पांचरात्र संहिताओं का भी उपयोग मध्व ने बहुत किया है।

सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा - जगत् की व्याख्या के पश्चात् अन्त में हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि द्वैतमतानुयायी विद्वान् ब्रह्मोपादनत्व को न मानकर ईश्वर को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रकृति उसके अधीन है एवं वही जगत् का उपादान कारण है न कि ईश्वर ।[3] जगत्, ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। मध्व मत के विद्वान् जगत् का आपलाप किसी भी रूप एवं मात्रा में नहीं करना चाहते हैं। उत्पत्ति, स्थिति, स्वरूप आदि सभी के विवेचन में उसकी अविरुद्ध सत्ता की स्थापना एवं युक्ति संगत समर्थन के लिए उसकी दृष्टि अत्यन्त जागरूक है।

---

1 तत्त्व संख्यान पृ. 41

2 मध्वसिद्धान्तसार पृ. 490

3 मध्व-ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.1.15

अष्टम् अध्याय

साधना का स्वरूप और भक्ति मार्ग

भक्ति एक अद्भुत और लोकोत्तर अनुभूति है, जिसमें शुद्ध भावना और श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती है। मनुष्य में जब सच्चा प्रेम उत्पन्न होता है, तो मानव हृदय भक्ति-भाव से उद्वेलित हो उठता हैं। भक्ति-भावना में स्वार्थ, तुच्छ तथा हल्के हेतुओं को समाहित नहीं करना चाहिए। भक्ति एक अत्युत्तम मार्ग हैं। भक्ति का सच्चा स्वरूप तो यही है कि उसमें विनिमय का भाव ही न रहे, अपितु अपना सर्वस्व अर्पण करने का भाव निहित हो। भक्त का हृदय प्रेम, दया, करुणा और उदारता से भरा रहता है। भक्त के हृदय के किसी कोने में हिंसा एवं लोलुपता के लिए अवकाश न होना ही भक्ति की उपस्थिति को प्रदर्शित करता है।

भक्ति का स्वरूप - भक्ति को जीवन की एक पद्धति भी कह सकते हैं क्यों कि यह एक प्रक्रिया है जो निरन्तर गतिशील है। समय-समय पर समाज के हित के लिए सन्तों ने भक्ति का स्वरूप बतलाया है-

शांडिल्य ने कहा है कि भक्ति ईश्वर में परम अनुराग है।[1] नारद ने भक्ति को **परमप्रेमरूपा** और अमृतरूपा कहा है।[2] पराशर ऋषि ने पूजादि में अनुराग को भक्ति कहा है। तथा गर्ग ने कथादि में अनुराग को। भक्ति का सामान्य अर्थ भगवान का भजन, सेवा स्मरण है और यह भी भक्त और भगवान के द्वैत पर टिकी है। भक्ति के विभिन्न घटक जैसे प्रेम भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग इत्यादि माने गए हैं, इन घटकों के द्वारा भक्ति प्राप्त की जा सकती है।

मध्वाचार्य अपने ग्रन्थ पूर्णप्रज्ञभाष्य में भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

भक्तिस्थः परमो विष्णुस्तयैवैनं वशं नयेत् ।
तमैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया।

---

1 सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र

2 नारद भक्तिसूत्र 16-17 सा स्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतरूपा अमृतस्वरूपां च। - भक्तिसूत्र 2/3

स्नेहानुबन्धो यस्तस्मिन् बहुमानपुरस्सरः॥

भक्तिरित्युच्यते सैव करणं परमीक्षितुः॥

अर्थात् ''भक्ति में लगे हुए जीव को, भगवान विष्णु भक्ति साधन से ही वंशगत करते हैं, जिससे उसे दर्शन होता है, उसी से उसे मुक्ति भी देते हैं।'' अति आदरपूर्वक परमात्मा में किए गये स्नेह को भक्ति कहते हैं, वही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। सारे शब्द ब्रह्म में ही प्रवृत्त होते हैं, इससे भी उक्त भक्ति का महत्त्व निश्चित हो जाता है।

इस प्रकार परब्रह्म विष्णु से जो स्नेह है, उससे प्रेरित जो भी कायिक या मानसिक सेवा है, वह भक्ति हैं। शास्त्र कहते हैं प्रेम करना है तो आनन्दमय, आनन्दस्वरूप, आनन्दधाम, आनन्दधन, परमात्मा से ही करना चाहिए। यह प्रेम भक्तिमार्ग में ही सुलभ हो सकता है। मध्वाचार्य ने इस रहस्य को जानकर ही भक्तिमार्ग को स्वीकार किया है। मध्वाचार्य के अनुसार परमात्मा ही प्रेम का आदि स्त्रोत है, वह स्वयं प्रेमस्वरूप ही है, जिसके हृदय में यह बात बैठ जाती है वह परमात्मा के प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है। जिसके मस्तिष्क में यह बात जँच जाती है कि परमात्मा ही एक मात्र प्राप्त करने योग्य है, वह परमात्मा के प्रेम में रंग जाता हैं, वह जान जाता है कि सांसारिक आनन्द तो क्षणिक, अल्प और अनित्य है, किन्तु परमपद रूप विष्णु का आनन्द नित्य, पूर्ण, चेतन और घन है, क्यों कि वे अनन्त, नित्य, पूर्ण, चेतन और आनन्द घन है। प्रेम का बीज प्रत्येक व्यक्ति में नैसर्गिक रूप से ही विद्यमान हैं उसका क्रियान्वयन भी है, किन्तु दिशा दूसरी है, यह दिशा जब भगवान् की ओर मुड़ जाती है और उनके प्रति प्रेमानुभव होने लगता है, तो श्रद्धा स्वतः अस्तित्व में आ जाती है।

श्रद्धा की बात आने पर मध्व कहते हैं - कि भक्ति में श्रद्धा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि भक्त द्वारा भगवान् का गुण, प्रभाव और प्रेम की बातें सुनने से जब तर्करहित विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, तब एक दिन साध्य की प्राप्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति भक्त को ही जाती है। भगवत्प्राप्ति के लिए भगवत्सेवा अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि भगवत्सेवा घर में रहकर, गृहस्थ जीवन में भी सम्भव है या नहीं है, अथवा वन में ही जाकर साधना करेगे तभी भगवान हमारी भक्ति स्वीकार करेगे। वस्तुतः भगवान तो श्रद्धा विश्वास के प्रेमी हैं, वह वन में हो या घर में हो।

इसीलिए मध्व यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि साधनावस्था में तो भक्त को सर्वनिवेदनपूर्वक, घर में रहकर, भगवदीयजनों से प्रेरणा लेकर, अपना सारा समय भगवत्सेवा में ही लगाना चाहिए। जब भगवान में अनन्य आसक्ति हो जाती है, तो सांसारिक विषयों से, गृहपरिवार से व्यक्ति स्वतः ही विरत हो जाता है।

इस प्रकार भक्ति में प्रवेश का पहला लक्षण यह होता है कि व्यक्ति हर स्थिति में प्रसन्न और आत्म-संतुष्ट नजर आता है। जब तक जीवन में राग और आसक्ति है, तब तक भगवान का प्रेम प्राप्त नहीं होता है।

जीवन में भक्ति किस प्रकार आती है यह बताते हुए मध्व कहते हैं कि जिन महापुरुषों के भीतर सच्ची भक्ति प्रवेश कर गयी, उन्हें कोई चीज मिली या उनसे छिन गयी, उसे ईश्वर की इच्छा मानकर सन्तोष कर लेते हैं, वे भगवान से कहते हैं- प्रभु यह संसार आप ही तो चलाते हैं। जैसा तुम चाहते हो, जैसा तुम्हे अच्छा लगता है, वही ठीक है। हमारी अपनी इच्छा क्या हो सकती है? भगवान आप जो कुछ देंगे, हम ले लेंगे। जैसा रखेंगे, वैसा रह लेंगे। जैसे ही यह संतुष्टि आयेगी, समझ लो जीवन में भक्ति आ गयी।

भक्ति के स्वरूप के अन्तर्गत ही 'नवधा भक्ति' का भी वर्णन किया जाता है। कथादि में अनुराग को गर्ग ने भक्ति कहा है।[1]

नवधा भक्ति - भक्ति के वर्णन में यदि 'नवधा - भक्ति' का वर्णन न किया जाए तो भक्ति प्रसंग अधूरा यह जाएगा क्यों कि प्रारम्भ में हृदय में भक्ति की प्रेरणा जगाने के लिए कुछ साधनों का अवलम्ब लिया जाता है, इन साधनों में नवधाभक्ति का विशिष्ट महत्त्व है श्रीमद्भागवत के सप्तम् स्कन्ध में भक्त शिरोमणि प्रह्लाद ने नवधा भक्ति का वर्णन किया है -

'श्रावणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेति नवलक्षण।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मयेऽधीतमुत्तमम् ।''

(श्रीमद्भा0 7/5/23-24)

---

1 नारद भक्ति सूत्र 16/17

नवधा भक्ति के नौ अंग श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन हैं। इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है-

श्रवण - भगवान् के गुणों और कथानकों को सुनना श्रवण भक्ति है। भगवान विष्णु की कथा-श्रवण से हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा उनकी दयालुता सुनकर भक्त का दुःख दूर हो जाता है।

कीर्तन- भगवान् के नाम का सामूहिक उच्चारण या ज्ञान अथवा भगवान् का गुणगान करना कीर्तन भक्ति है। वैष्णव-सम्प्रदाय में कीर्तन को संगीत से समन्वित कर भक्ति-साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

स्मरण - भगवान् के नाम, रूप या गुण का स्मरण करना स्मरण-भक्ति हैं। इष्टदेव का नाम-जप भी स्मरण की ही एक विधा है। इससे भगवान् विष्णु में अनुराग दृढ हो जाता है। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में कीर्तन को लीला-स्मरण का ही अंग स्वीकार किया गया है।

पादसेवन- भगवान् के चरणों की सेवा करना अर्थात् उनके श्री विग्रह की अर्चना करना पादसेवाभक्ति हैं। भगवान् सुख की राशि है, वहाँ अज्ञान का अंधकार नहीं है। पादसेवन का मुख्य फल है- भक्त का अहंकार नष्ट हो जाना। इसमें केवल सेवा ही नहीं की जाती है, बल्कि अहंकार भी नष्ट हो जाता है।

अर्चन - षोडशोपचार पूजन अर्चनरूप भक्ति है। इससे भक्त के मन में ईश्वर के प्रति प्रेम तो उत्पन्न होता ही है साथ ही उसके दैनन्दिन-जीवन के क्रिया-कलाप भी दैवी-प्रेरणा से मुक्त हो जाते हैं। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में इसका अत्यधिक महत्त्व है।

वन्दन - भगवान् को नमस्कार करना वन्दन भक्ति हैं। वन्दन-भक्ति में प्रभु की आराधना के साथ ही साथ आत्मसमर्पण की भावना भी उत्पन्न हो जाती हैं। मनुष्य ईश्वर के माहात्म्य में इतना रम जाता है कि उसके हृदय में उनका गुणगान स्वतः होने लगता है।

दास्य - भक्त का स्वयं को भगवान् का किंकर समझना और सदा भगवान् की सेवा में रत रहना दास्य-भक्ति हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस दैन्यभाव से आत्मबोध होने पर ही भगवान प्रसन्न होते हैं। मध्वाचार्य ने जीव और ब्रह्म के बीच अंशाशिभाव स्वीकार किया है, इससे भक्त और भगवान् के बीच स्वस्वामिभाव उत्पन्न हो जाता है।

सख्य - भगवान् को अपना सखा समझना सख्य भक्ति है। भक्त का स्नेह और इस स्नेह का भगवान् की ओर से दिया गया प्रत्युत्तर-दोनों से मिलकर भक्त और भगवान् के बीच सख्यभाव स्थापित होता है।

आत्मनिवेदन - सब कुछ भगवान् को समर्पित करके उनकी शरण में जाना आतमनिवेदन है। इसमें भक्त अपना सब कुछ यहाँ तक कि अपना स्वत्व भी ईश्वर को अर्पित कर देता है, ईश्वर के प्रति प्रेम इतना दृढ हो जाता है कि भक्त की सर्वत्र, स्व और स्वीय में भगवदीय-दृष्टि हो जाती है। वास्तव में नवधा भक्ति में कोई भी एक भक्ति स्वीकार की जा सकती है, परन्तु यदि कोई भक्त इन सबको कर सके तो उसके बारे में कहना ही क्या है? आचार्य मध्व ने नवधाभक्ति को अपने दर्शन में स्वीकार किया है, क्योंकि इससे भक्त और भगवान् का द्वैत बना रहता है, उनमें श्रद्धाजन्य का जो वैषम्य है वह बना रहता है। एक कारण नवधा भक्ति को स्वीकार करने का यह भी होता है कि इससे भक्ति और पुष्ट हो जाती है। अन्य विद्वानों ने भी नवधाभक्ति को स्वीकार किया है- विट्ठलनाथ लिखते हैं कि श्रवणादि जो नवधा के भेद हैं, वे भी विभिन्न अधिकारियों के द्वारा किये जाने के कारण कर्म, ज्ञान, उपासना और भक्तिमार्गीय होने से अनेक प्रकार के हैं।[1] त्रिवर्गकामी अर्थात् धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थो की इच्छा रखने वाले अधिकारियों द्वारा किए गये श्रवणादि कर्ममार्गीय हैं।[2] **यथायथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मप्युपण्यगाथाश्रवणाभिधानैः** - इस भागवतोक्ति में ज्ञानमार्गीय नवधा का ही वर्णन है। साक्षात् मोक्ष-साधकरूप से पांचरात्रादि दक्षिणागमों के अनुसार तान्त्रिकदीक्षापूर्वक जो श्रवणादिक है, वे उपासनामार्गीय है। विष्णुधर्मों में निष्ठा होने के कारण यह उपासनामार्ग ही वैष्णवमार्ग कहलाता है।[3]

तुलसीदास ने भी नवधाभक्ति का कई प्रकार से वर्णन किया है- सत्संग, भगवत्कथा-प्रेम, गुरूसेवा, भगवान् का गुण गान, जप-भजन, दम-शील, वैराग्य, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन और संत को भगवान से बड़ा समझना,

---

1 'श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोन्पासनाभक्ति-मार्गीयत्वेनाऽनेक-विधं भवति। - भक्ति हंस पृ. 43

2 ''तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादि कर्ममार्गीय एव''।

3 ''साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन तान्त्रिकदीक्षापूर्वकं विहितत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिरूपो-पासनामार्गीयः अयमेव वैष्णवमार्ग इत्युच्यते, विष्णुधर्मेष्वेव निष्ठावत्त्वात्।'' -भक्तिहंस, पृ. 47

यथालाभ सन्तोष तथा भगवान् का भरोसा[1] ये तुलसीदास के अनुसार नवधाभक्ति है। वास्तव में नवधा भक्ति के यह प्रकार पुराणों की नवधा भक्ति का ही विकास है। इस प्रकार भगवान के प्रति अपार श्रद्धा का नाम भक्ति है। यथार्थ में भक्ति से ही भगवान की सुलभ प्राप्ति होती है।

भक्ति की मनोवैज्ञानिक दृष्टि - भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मानव के मनोविज्ञान और उसकी, मौलिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखती हैं। मानव- मात्र में ईश्वर को जानने की पिपासा होती है, क्यों कि ईश्वर ही उसका सच्चा मार्गदर्शक हो सकता है, जो सत्य और शिव के सर्वोच्च प्रतिमानों का धारक है। ईश्वर पर ही हम आस्था और विश्वास सच्चे अर्थों में टिका सकते हैं क्योंकि विचलित क्षणों में यही सहारा देता है। ईश्वर मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता हैं। एक सामान्य व्यक्ति में स्वयं इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सके। इसके लिए उसे एक सहारे, एक माध्यम की आवश्यकता होती है और यह माध्यम ईश्वर है। ईश्वर के माध्यम से ही व्यक्ति स्वयं तक पहुॅच पाता हैं। भौतिक जगत में सुख और दुःख परस्पर सापेक्ष स्थितियाँ हैं। भौतिक सुख अनित्य और अस्थिर है तथा चेतना के अत्यन्त स्थूल स्तरों पर अनुभूत होता हैं। इसके विपरीत ईश्वर का आनन्द एक ऐसा अनुमान है जो स्वयं में पूर्व और निरपेक्ष हैं। यह सत्य और शाश्वत है, तथा दुःख के लेश से भी रहित है। यह आनन्द देहेन्द्रिय आदि की स्थूल चेतनाओं का विषय नहीं, अपितु भौतिक सुख से भिन्न एक सर्वनिरपेक्ष, स्वतः पूर्व आत्मनिष्ठ अनुभूति है जिसकी अभिव्यक्ति का स्थल वाह्य स्थूल चेतना नहीं अपितु आत्मस्वरूप हैं। यह अतीन्द्रिय, अतिभौतिक परानन्द ही 'आत्मानन्द' अथवा 'ब्रह्मानन्द' है जिसकी प्राप्ति के अनन्तर ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में 'मानन्दी' बन जाता है। यह लोकोत्तर आनन्द ही मानव की सर्वोच्च स्पृहा का विषय है, यही उसका चरम साध्य है, यही ज्ञान, भक्ति, योग तप का अभीष्ट है। चाहे जिस मार्ग का अनुसरण किया जाय, लक्ष्य यही है। इस लक्ष्य तक पहुॅचने के मार्ग कई हैं किन्तु भक्ति का मार्ग सबसे सहज और स्वाभाविक है।

भक्ति ही ईश्वर की प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग हैं। भक्ति निर्गुण, निराकार की अपेक्षा सगुण और साकार के ही प्रति होती हैं भक्ति की यह विशेषता मानव-स्वभाव से उसकी अन्तरंगता प्रदर्शित करती है, मनुष्य ईश्वर की

---

1 द्रष्टव्य रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, राम का शबरी को उपदेश।

कल्पना निर्गुण, निराकार रूप में ही कर सकता हैं। जब तक मानवी प्रकृति की सीमाओं के अन्दर है तब तक वह जब भी उस अद्वय चिरन्तन तत्त्व को अपने चिन्तन की परिधि में लाना चाहेगा, सागार और सविशेष रूप में ही ला पाएगा। सृष्टि के जिस मूलतत्त्व को उपनिषदों में निराकार, निष्कल, आनन्दस्वरूप ब्रह्म कहा गया है, यही आनन्द मध्व के दर्शन में भगवान् विष्णु के विग्रह में धनीभूत होकर प्रकट हुआ है।

भक्ति शब्द का अर्थ - यहाँ पर 'भक्ति' का अर्थ क्या है? इस पर विचार करना आवश्यक है। 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता हैं। 'भज्' धातु सेवा अर्थ में होती है। 'अज् सेवायाम्' इस धातु पाठ से तथा 'भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः' इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट है। **'प्रकृति प्रत्ययौ सहार्थ बूत्रस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन'** इस नियम के अनुसार धातु के सामान्यार्थ में शक्त होने पर क्तिन् प्रत्यय, भज् धतु के साथ पठित होने के कारण प्रधान रूप से भजिक्रिया का ही द्योतन करता है। इस प्रकार भजन ही भक्तिशब्द वाच्य क्रिया है।

आचार्य मध्व भगवान् की महिमा के पश्चात भक्ति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अपने ग्रंन्थ पूर्णप्रज्ञभाष्य में पद्मपुराण का दृष्टान्त देते हैं-

महत्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते।

तथैव त्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम् ॥

अर्थात् ''स्नेहपूर्वक की गयी महत्त्वबुद्धि को ही भक्ति कहते हैं, उसी से जीव के सुखादि रूपों की अभिव्यक्ति होती है।

भक्ति की व्याख्या के लिए ही मध्वाचार्य 'ॐ उपपत्तेश्च' सूत्र भी देते हैं-

ऐश्वर्यात्परमाद् विष्णोर्भक्तादीनाम नादितः।

ब्रह्मादीनां सूपपत्रा ह्यानन्दादेर्विचित्रता॥

इति पाद में भक्ति आदि अनादि तत्त्व है किन्तु भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य से ब्रह्मादि देवों का भक्ति आदि गुण अनादि होने के कारण उनके आनन्द आदि की विचित्रता देखी जाती है, ऐसी पद्मपुराण की उक्ति है।

माध्व दर्शन में भक्ति का माहातम्य- भक्ति की उत्पत्ति के लिए ईश्वर का माहात्म्यज्ञान आवश्यक है। भक्ति के विषयभूत भगवान् की महिमा के

ज्ञान के अभाव में भक्ति ही सम्भव नहीं होगी। इसलिए माहात्म्यज्ञानरूप ब्रह्मज्ञान के नियत पूर्ववर्ती होने के कारण वह भक्ति का हेतु है।

सुखाकांक्षा प्रत्येक मानव का स्वभाव है। सुख देने वाली कोई वस्तु हो, कोई व्यक्ति हो, या कोई परिस्थिति हो, उससे मानव प्रेम करने लगता है। यह प्रेम तब तक बना रहता है, जब तक सुख मिलता है या सुख मिलते रहने की आशा व सम्भावना बनी रहती है। संसार में जहाँ भी सुख व आनन्द प्रतीत होता है। वह उस आनन्दमय ईश्वर के आनन्द का आभासमात्र है। विचारणीय बात यह है कि जब आभास मात्र इतना आकर्षक है, तो पूर्ण आनन्द भला कितना अधिक आकर्षक होगा।

मध्व भक्ति का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि इसे 'कल्पतरू' की संज्ञा भी दे सकते हैं, क्यों कि भक्ति से ही सब कुछ सिद्ध हो जाता है, अन्य साधन स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती हैं। जो सभी साधनों से अतीत है वे भगवान भी भक्ति की अधिकार सीमा में आ जाते हैं। **मामेव नरेपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति** (श्रीमद्भा0 11.26.53) आचार्य मध्व 'भक्ति' से ही मुक्ति भी दिला देते हैं, इसकी व्याख्या करते हुए ग्रंथ पूर्णप्रज्ञभाष्य में कहते हैं-

ॐ परेण च शब्दस्य तावद्विध्यं भूयस्त्वात्तवनुबन्धः'

परमात्मैव भक्तया दर्शनं प्राप्य मुक्तिं ददाति' इति प्रधान साधनत्वाद् भक्तिः करणत्वेनोच्यते। मायावैभवे च-

'भक्तिस्वः परमो विष्णुस्तयैवैनं वशं नयेत् ।
तमैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया।
स्नेहानुबन्धो मस्तस्मिन् बहुमानपुरस्सरः।।
भक्तिरित्युच्यते सैव करणं परमीक्षितुः।।
इति सर्वशब्दानां ब्रह्मणि प्रवृत्तेश्च।

अर्थात् "परमात्मा ही भक्ति से दर्शन कराकर मुक्ति देते हैं।" इत्यादि में प्रधान साधन के रूप में भक्ति का करणत्व बतलाया गया हैं जैसा कि माया वैभव ग्रन्थ में भी उल्लेख है - भक्ति में लगे हुए जीव को, भगवान् विष्णु भक्ति साधन से ही वंशगत करते हैं, जिससे उसे दर्शन होता है, उसी से उसे मुक्ति भी देते हैं।' गति आदरपूर्वक परमातमा में किए गये स्नहे को ही भक्ति कहते हैं,

वही परमातमा की प्राप्ति का साधन हैं सम्पूर्ण शब्द ब्रह्म में ही प्रवृत्त होते हैं, इससे भी उक्त भक्ति का महत्त्व निश्चित होता है।

भक्ति का महत्त्व बताने के पश्चात् मध्वाचार्य यह भी कहते हैं कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन से भक्ति का महत्त्व कम नहीं है। केवल श्रवण आदि विधियों से या गुरु कृपा से ही ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो जाता भक्ति आदि भी अपेक्षित है जैसा कि नारायणतंत्र के वचन से निश्चित होता है- सर्वलक्षण सम्पन्न सर्वज्ञ विष्णु तत्पर गुरू आदि प्रसन्न हो जाते और कुछ भी शिष्य को दे यें तो वह अन्यथा नहीं हो सकता, किन्तु गुरूकृपा भी अनादि संसिद्ध भक्तायादि गुणों से ही प्राप्ति होती है, उसी से भगवत्प्राप्ति भी सम्भव हैं। विष्णु और गुरू में भक्ति होने पर ही गुरू नित्य प्रसन्न होते हैं और फिर शमदम आदि गुण प्रदान करते हैं तब कही श्रवण आदि साधनों से भगवत्साक्षात्कार हो पाता है।

भक्ति की उत्पत्ति में भगवत्कृपा ही कारण है - मध्वाचार्य सर्वप्रथम भक्ति प्राप्ति के लिए भगवत्कृपा का वर्णन करते हैं -

''ॐ संध्ये सृष्टिराह हि ॐ 3.2.1.1

न स्वप्नोऽपि तं विना प्रतीयते। - न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते-- इत्यादि श्रुतेः। भगवत्कृपा के बिना तो स्वप्न भी नहीं दीखता क्योंकि 'न वहाँ रथ होता है न रथयोग न कोई मार्ग ही होता है, रथ, रथयोग और मार्ग आदि सब भगवान् ही प्रकट करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जब स्वप्न जैसी अवस्था ईश्वर कृपा द्वारा संचालित होती है तो भक्ति की उत्पत्ति क्या मनुष्य द्वारा सम्भव है।

प्रदर्शकस्तु सर्वेषां स्वप्नादेरेक स्व तु।

परमः पुरूषो विष्णुस्ततोऽन्यो नास्तिकश्चन् ॥

इत्यनुसारिस्मृतेश्च। ''एष स्वप्नान्दर्शयत्येष प्रबोधयत्येष एव परमानन्दः इति च श्रुतिः। ''आत्मानमेव लोकमुपासीत् ' इति च विधिः। एकमात्र वे ही सबको स्वप्न आदि दिखलाते हैं परम पुरूष विष्णु ही सब कराते हैं कोई और नहीं कराता इत्यादि स्मृति का मत है।

मनुष्य के अन्दर जो भक्ति भावना जाग्रत होती है वह एकमात्र परमात्मा के द्वारा ही सम्भव है। जीव के अनादि मनोगत संस्कार पुंज जो मनुष्य के अन्तःकरण में छिपे रहते हैं, उन्हें प्रकट करना किसी भी प्रकार के साधन से सम्भव नहीं है, जो वस्तु छिपी हुयी है, वह भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य

साधन से प्रकाश में नहीं आ सकती, भगवान् अपनी इच्छा से उसके संस्कारों को देखते हुए उसमें भक्ति-भावना जाग्रत करते हैं।

परमात्मा देह में अन्तर्यामी रूप से रहते हैं इसलिए जाग्रत अवस्था में भी जो कुछ होता है वह भी उन्हीं की कृपा से होता है जैसा कि कौण्ठरत्यश्रुति में कहा गया है-

ॐ देहयोगाद् वासोऽपि ॐ

देहयोगेन वासो जाग्रदपि तत एव। स एव जागरिते स्थापयति स स्वप्ने स प्रभुस्तुराषाट् स एको बहुधा भवति इति। कौण्ठरत्यश्रुते। अर्थात् 'वही प्रभु है इन्द्र है, वह एक होता हुआ भी अनेक जीवों में अन्तर्यामी रूप से लीला कर रहा है।' यहाँ पर एक बात और जानना आवश्यक हो जाता है। कि वह परमात्मा भक्ति भावना किसी-किसी को ही दिखलातें हैं सबको नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते क्यों कि यही कर्म कराते हैं यह सामान्य निर्देश परमात्मा के लिए ही किया गया है, वे ही सब को कर्म की प्रेरणा देते हैं।

लोक को आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए' ऐसी विधि भी है जो कि ज्ञानरूपी परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। उस परमात्मा की ही कृपा से हम भक्तिमार्ग को अपनाते हैं वह जिस व्यक्ति को सांसारिक माया-मोह से दूर करके मोक्ष के मार्ग पर ले जाना चाहेगा उसे भक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर करेगा। मनुष्य को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, यह ईश्वरीय कृपा का फल ही होता है कि मनुष्य भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, वह ईश्वर की ओर दौड़ता है, भौतिक वस्तुएं उसके मार्ग में बाधा नहीं बन सकती हैं।

भक्ति की अन्य साधन निरपेक्षता- जब मध्व यह कहते हैं कि भक्ति रूपी साधन स्वीकार करने के पश्चात् अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है, तो उनका तात्पर्य यह है कि केवल भक्ति ही फलदान में पूर्ण समर्थ है, क्यों कि जो कुछ अन्य साधनों से सिद्ध होता है, वह अकेले भक्ति से ही सिद्ध हो जाता है, किन्तु जो भक्ति से सिद्ध होता है वह अन्य किसी साधन से सिद्ध नहीं होता।[1]

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।

---

1 यत्कर्मभिः .... मद्भक्तो लभतेऽजसा इति तु भक्तिसाध्यं नाऽन्येन सिद्धयत्यन्यसाध्यं भक्तेरानुषंगिकमिति कथानार्थम्। कल्पतरूस्वभावत्वज्ञापनाय चोक्तम।'' - भक्तिहंस, पृ. 26

योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽजसा।।

स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वांछति।।

(श्रीमद्भा0 11/20/32,33)

इसके विपरीत भक्ति का प्राप्य जो ईश्वर प्राप्ति है, वह अन्य किसी साधन के वश की बात नहीं हैं। गीता में भगवान ने स्वयं अपना भक्त्यैकलभ्यत्व स्वीकार किया है-

नाऽहं वैदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं द्रष्टवानसि माम् यथा।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।''

अन्य किसी साधन में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह ईश्वर को अपने अधीन कर सके, केवल भक्ति ही उन्हें वश में कर सकती है। भागवतवाक्य इस विषय में प्रमाण है-

''न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।''

(श्रीमद्भागवत 11.14.20)

इससे यह निश्चित हो जाता है कि अखण्ड आनन्दस्वरूप परब्रह्म विष्णु की प्राप्ति में भक्ति के ही समर्थ होने के कारण भक्तिमार्ग का ही अवलम्ब लेना चाहिए।

आचार्य मध्व ने ज्ञान, कर्म, तप आदि साधनों को भगवत्प्राप्ति के साधनों के रूप में स्वीकार तो किया है, परन्तु भक्ति समन्वित करके ही स्वीकार किया है, निरपेक्ष रूप से इनकी सत्ता ग्रहण नहीं करते हैं। ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग की स्थिति भक्तिमार्ग में ही है। अपने स्वरूप के वास्तविक ज्ञान से ही ज्ञात होता है कि आत्मा और ब्रह्म का एक ही स्वरूप है - **'जीवो ब्रह्मैव नापरः '** (जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं) **''ऋतु ज्ञानान्नमुक्तिः ''** (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती) छान्दोग्य का कथन है - **''तरति शोकमात्मभवति''** (6/1/3) ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है) आत्मा

को जानने वाला शोक से पार हो जाता है, **''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' ''सर्व खल्विदं ब्रह्म'' ''आत्मानं सिद्धि'** आत्मा को जानो। इसी एक तत्त्व की साधना को ज्ञान-मार्ग कहा गया है।

मध्वाचार्य इसे भक्ति-मिश्रित करके कहते हैं- भक्त को जब यह ज्ञान हो जाए, कि संसार में भगवान के अतिरिक्त कोई अविनाशी और सार वस्तु नहीं है, समस्त पदार्थ उसके ही रूप है और समस्त संसार का संचालन मिनयम और उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार उसी भगवान की इच्छा और शक्ति से हो रहा है तब संसार की वस्तुओं से रूचि हटकर भगवान में उसकी भक्ति हो जाती हैं। इस प्रकार के आध्यात्मिक विकास के कारण भक्त का भगवान के ऊपर पूर्ण विश्वास हो जाता है और उसी को प्रसन्न करने के लिए वह सम्पूर्ण कर्म करता हैं। मध्व यहाँ पर कर्म को भी भक्ति- मिश्रित स्वीकार करके बताते है- यहाँ तक कि भक्त को अपने व्यक्तिगत-जीवन के लिए किसी विशेष कर्तव्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका जीवन ही मानो भगवान के लिए होता है और भगवद्भक्ति में बीतता हैं। भगवान की भक्ति करने वाला अंत में भगवान् को प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भागवतदीगता में श्रीकृष्ण कहते है- जो सब कर्म - मेरे लिए करता है, जो मुझे ही परम लक्ष्य समझता है जो विषयों में आसक्त नहीं है, जो किसी भी प्राणी से वैर नहीं रखता, ऐसा भक्त मुझे प्राप्त कर लेता है -

सर्वं धर्मान्यरित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता 18/66)

यहाँ तक कि पूर्ण आस्थावान भक्त के लिए भगवान का आदेश है कि सब कर्त्तव्यों को छोडकर मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।

इस प्रकार अनन्य निष्ठापूर्वक भगवान का मनन, पूजन, एवं उनके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण ही भक्तियोग है। मध्वाचार्य निष्काम कर्मयोग को भी भक्ति संवलित बताते हैं- और सभी प्रकार की आसक्ति को त्याग कर भगवान् की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धि से शास्त्र-विहित कर्तत्य कर्मों को करना ही भक्त का प्रयोजन है। जो भक्त कर्मों के फल की इच्छा न करते हुए कर्म करता है और सब कर्मों को ब्रह्म को अर्पण कर देता है, वह पाप से वैसे ही बच जाता है जैसे कमल का पत्ता पानी से। मध्व कहते हैं कि संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भी भक्ति मार्ग को ही अपनाना चाहिए -

''**तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः**'' मध्वाचार्य ने ज्ञान और भक्ति दोनों को स्वीकार किया है और कर्म का ज्ञानोपकारकत्व भी तभी है, जब कर्म भगवदर्पित हो। यह समर्पण ही भक्ति है। ज्ञान और भक्ति का क्रमशः उत्तम और अत्युत्तम फल होने से उसके साधन रूप से ही कर्म करना चाहिए। कर्म मार्गान्तर से सम्बद्ध होकर ही उत्तम फल दे सकता है, स्वयं उसका फल तो श्रुति असकृत आवृत्ति और पुनर्जन्म ही बताती है, जो फल की दृष्टि से हेय है।

''भागवत् तात्पर्य निर्याय- ग्रंन्थ में मध्व ने लिखा है कि भक्तियोग ज्ञान और कर्म से अनुप्राणित है। पराभक्ति, परज्ञान और निष्काम कर्म वस्तुतः एक ही है, क्यों कि तीनों का अर्थ है- निर्विकल्प अपरोक्ष आत्मानुभूति। भक्ति, ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है, क्यों कि अपनी चरम अवस्था में ये सभी अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं। इन तीनों के समन्वय से साधना मार्ग, सरल, सुबोध और सुगम हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञान कर्म, भक्ति तीनों का चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है।[1]

भक्ति की पात्रता- मध्व भक्ति की पात्रता के गुण बताते हुए कहते हैं कि भक्ति के लिए बालक की तरह सरल स्वभाव का होना चाहिए। किसी भी जाति, आयु या लिङ्ग का व्यक्ति भक्तिमार्ग अपना सकता है, भक्ति मार्ग में स्त्री-पुरूष का भी कोई भेद नहीं है, इस प्रकार कोई भी सरल, निष्कपट तथा शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही भक्तिमार्ग का अधिकारी हो सकता है।

इस प्रकार जो ईश्वर का भक्त है वही सर्वज्ञ, गुणी,ज्ञाता, जगत् में पूज्य, पण्डित, ज्ञानी, धार्मिक, कुलरक्षक, नीतिनिपुण, चतुर, श्रोत्रिय, कवि, कोविद और वीर-योद्धा है।

भक्ति और पूजा में अन्तर - मध्वाचार्य कहते हैं - पूजा, मंत्रजप, उपासना, आदि परब्रह्म विष्णु की विभूतियों को ही विषय बनाते हैं, परब्रह्म को नहीं। पूजा, मंत्र-जप का भक्ति से भेद भी जानना आवश्यक है, क्यों कि पूजा आदि के काम्यफल अनेक है, लौकिक अर्थ से लेकर स्वर्ग, अपवर्ग, तथा अनेक फलों की प्राप्ति के लिए पूजा, मंत्रार्चन आदि का विधान होता है, किन्तु

---

1 ब्रह्मभूतः प्रसन्वातमा- ...... लभते पराम् ।
भक्तया मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।
- भागवत् - तात्पर्य- निर्णय 1,106,107

भक्ति का एकमात्र फल ईश्वर प्राप्ति ही है। इस प्रकार फल-भेद से पूजा और भक्ति का स्वरूप भेद सिद्ध होता है।

उत्तरार्द्ध में पूजा को साधनत्व कहा गया है।, उससे भी पूजा और भक्ति का अन्तर स्पष्ट है।[1] दोनों में अन्तर जानने के पश्चात् यह सिद्ध हो जाता है कि पूजा की अपेक्षा भक्ति का अधिक महत्त्व है, क्यों कि इससे व्यक्ति में प्रेम का अंकुरण प्रस्फुटन, जागरण, वृद्धि और विकास होता है।

भक्ति की साध्यरूपता- कुछ लोग भक्ति को 'पंचम पुरूषार्थ' भी कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अतिरिक्त पाँचवॉ पुरूषार्थ भक्ति हैं। भक्तों की दृष्टि में यही एकमात्र पुरूषार्थ या परमार्थ हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस दृष्टि से परमार्थ नहीं है। भक्त धर्म- अधर्म के द्वन्द्व में नहीं पड़ना चाहता है, वह अर्थ, काम और मोक्ष नहीं चाहता है, वह चाहता है केवल भक्ति और भक्ति के लिए भक्त और भगवान की ही आवश्यकता हैं। अपने भगवान् या ईष्टदेव का ही सदा ध्यान करना, उनकी सेवा करना, उनसे निरतिशय प्रेम करना ही भक्त का सर्वस्व है। वह अपनी भक्ति से व्यापार नहीं करना चाहता है। उसकी भक्ति, भक्ति के लिए ही होती है। भागवत पुराण में भगवान् कपिल 'भक्ति' की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य इन पाँच प्रकार की मुक्तियों को देने पर भी नहीं लेते हैं।[2] भक्ति की महिमा बताते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं-

सोई सर्वग्य गुनी सोई ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन ज्ञाता।।
नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुतिसिद्धान्त नीक तेहि जाना।।
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो हल छांडि भजइ रघुबीरा।।[3]

---

1 "... अत्र पूर्वाद्ध एवकारेण पूर्वोक्तपूजाफलत्यच्छेद-पूर्वकं स्वस्य भक्तियोगफलत्वमुक्तमिति फलभेदादपि स्वरूपभेद आयात्येव। उत्तरार्द्धे च पूजायाः साधनत्वं भक्तेश्च फलत्वं चेति स्पष्ट एव पूजार्देभक्तेर्भेदः। - गीता तात्पर्य निर्णय, पृ. 26

2 सालोक्य मुक्ति भगवान् के समान लोक-प्राप्ति है। सर्ष्टि-मुक्ति भगवान् के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति है। सामीप्य-मुक्ति भगवान् के समीप स्थान प्राप्ति है। सारूप्य-मुक्ति भगवान् के समान स्वरूप प्राप्ति है। सायुज्य मुक्ति भगवान् में लय प्राप्ति है।

3 रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड।

"भक्ति में भक्त अपने को भाव-समुद्र में इतना डुबा देता हैं कि भक्त अपना अस्तित्त्व भूलकर केवल अपने ईष्टदेव ईश्वर के साथ तन्मय हो जाता हैं। यह पराभक्ति ही भक्ति की अंतिम अवस्था है। इसमें सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति, ब्रह्मभावना और ब्रह्म की क्रिया होने लगती हैं। इस अवस्था में पहुँचने पर और कुछ करना शेष नहीं रहता हैं। सभी अज्ञान समाप्त होकर केवल ब्रह्म का ज्ञान ही रह जाता है। सभी बंधनों से मुक्त होकर मनुष्य भगवदर्पण-भाव से कर्म करने लगता है और मुक्ति का अनुभव करने लगता हैं। मध्वाचार्य अपने ग्रंथ 'गीता-तात्पर्य' में इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि भक्त समस्त जगत् को अपने में और अपने को समस्त जगत् में और सब जगह सबको समान भाव से देखने लगता हैं। "विष्णु तत्त्व- निर्णय" में एक और उदाहरण प्राप्त होता है कि इस प्रकार का अनुभवात्मक ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति नामरूप से विमुक्त होकर परम पुरूष ब्रह्म में इस प्रकार लीन हो जाता है, जैसे समुद्र की ओर जाने वाली नदियॉ अपने नाम रूपों को त्याग कर समुद्र में विलीन हो जाती है।

इस तरह की तादात्म्य-भक्ति के द्वारा भक्त अंत में सच्चिद्रूप परमात्मा में विलीन हो जाता है।"

भक्ति का फल - आचार्य मध्व कहते हैं - संसार से मुक्ति की कामना के लिए भी निष्काम भक्तिमार्ग को अपनाना चाहिए। महाभारत-तात्पर्य-निर्णय में भक्ति की तन्मयता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि भक्त परमात्मा के ध्यान में तल्लीन हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता हैं। उसके हृदय में परमात्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती हैं। उसे न सांसारिक वस्तु में रूचि रहती है और न वह किसी लौकिक वस्तु को प्राप्त करने का यत्न ही करता है, वह परमात्मा के ध्यान में मग्न रहता हैं। इस तरह की भक्ति की पराकाष्ठा भगवान् विष्णु के प्रति होना चाहिए।, तभी मनुष्य सिद्ध हो जाएगा, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता हैं भक्ति हो जाने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषय-भोगों की प्राप्ति में उत्साह होता है।[1]

---

1 यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।। - महाभारत- तात्पर्यनिर्णय।

इस प्रकार मध्व द्वारा बताए गए भक्ति-सिद्धान्त के विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब भक्ति से ही **आत्मसाक्षात्कार सम्भव** है, तो अपने मन को प्रभु के पावन-चरणों में लगा देना चाहिए। जैसे कोई बच्चा व्याकुल होकर रोने लगता है, वैसे ही भगवान् की याद में व्याकुल हो जाना चाहिए। यदि ईश्वर को पाना है तो रोने से प्रीति करे। रोना अर्थात् प्रभु की याद में रोना। संक्षेप में, भाव से ईश्वर का स्मरण कीजिए, यही भक्ति है। जो व्यक्ति सच्चे मन से भगवान की शरण में जाता है, भगवान् उसे अभयदान देते हैं, ईश्वर की शरणागति में अनन्यता होती है।''

नवम अध्याय

साध्य (मोक्ष) की अवधारणा

मोक्ष तथा बन्धन का स्वरूप- भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता व्यावहारिकता है। भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुःखों के आवरण से घिरा हुआ पाया तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकारा पाने की कामना की। इस प्रकार दुःखों से निवृत्ति के लिए मनुष्य ने दर्शन को स्वीकार किया। पाश्चात्य दर्शन की भाँति भारतीयदर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था जीवन के दुःखों का अन्त ढूंढना और तात्त्विक प्रश्नों का प्रादुर्भव इसी कारण हुआ। इससे यह ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान की चर्चा ज्ञान के लिए न होकर मोक्षानुभूति के लिए हुई है, अतः भारत में दर्शन का अनुशीलन मोक्ष के लिए ही किया गया है।

मोक्ष का अर्थ है दुःख से निवृत्ति। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें समस्त दुःखों का अभाव होता हैं मोक्ष को केवल दुःखाभाव रूप न कहकर निरतिशय सुख स्वरूप भी कह सकते हैं क्यों कि वेदान्त ने दुःख से सर्वथा रहित, आत्मावस्थितरूप मोक्ष की इस कल्पना में 'आनन्द' तत्त्व को संयुक्त कर दिया है। इसके पश्चात् वैष्णव वेदान्तियों ने इस अमूर्त्त और निराकार 'आनन्द' तत्त्व को एक आकार देकर मानवीय संवेदना के और निकट ला दिया, जिससे व्यक्ति के लिए इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति अधिक ग्राह्य और संवेदनीय बन गयी।

भारतीय दार्शनिकों ने बन्धन के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और अधिकांश का मत है कि अज्ञानता का अविद्या ही बन्धन है। अविद्या की निवृत्ति होना ही मोक्ष है। उपनिषदों में कहा गया है कि अविद्या के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही जीवों को बन्धन ग्रस्त कर देता है। इसके प्रभाव में जीव इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य कराने लगता है। बन्धन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का

अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एवं क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है।

ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है क्योंकि अहंकार का विनाश ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञान के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। मध्वाचार्य कहते हैं- जब यह आत्मा अपने को शरीर, मन या इन्द्रिय से एकाकार कर लेती है, तब यह बन्धन-ग्रस्त हो जाती है। आत्मा न तो शरीर है, न मन है, न ज्ञानेन्द्रिय है, न कर्मेन्द्रिय। अज्ञानवश व्यक्ति जब अपनी आत्मा को इनसे अभिन्न समझने लगता है तब वह बन्धन में जकड़ जाता है। वह शरीर, मन एवं इन्द्रियों के सुख - दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर सदैव व्याकुल रहता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि आत्मतत्त्व सचमुच शरीर, मन और इन्द्रिय से भिन्न है, तो फिर यह शरीर, मन एवं इन्द्रियों के दुःख से स्वयं क्यों दुःखी हो जाता है? इसका उत्तर आचार्य मध्व इस प्रकार देते हैं- कि जिस प्रकार कोई पिता अपनी संतानों के सुख-दुःख को मोहवश अपना सुख-दुःख समझ लेता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानवश शरीर, मन और इन्द्रियों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख मान लेता है। यही बन्धन का कारण है।

अज्ञान के वशीभूत जीव अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और मोहवश शरीरेन्द्रियादि तथा उनके धर्मों से तादात्म्य स्वीकार कर उनके धर्मों को स्वयं पर आरोपित कर सुख तथा दुःख का अनुभव करता है।

कर्मबन्धन ही संसार का मूल है। कर्म तीन प्रकार के होते है- संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण। संचित वे कर्म है जिनका फलभोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है, प्रारब्ध वे कर्म है जिन्होंने फल देना प्रारम्भ कर दिया है तथा क्रियमाण वे कर्म हैं जो वर्तमान में सम्पन्न हो रहे हैं तथा आगे चलकर जिनका फल मिलेगा। इनमें से क्रियमाण और संचित कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध का नाश भोग द्वारा ही होता है। जीव इन्हीं कर्मों के पाश में बँधकर नाना प्रकार के कष्टों को झेलता रहता है यही बन्धन है।

बन्धन का स्वरूप बताने के पश्चात् मध्व यह भी बताते है कि बन्धन और मोक्ष देने वाले वे परमात्मा स्वप्न के फल को नष्ट भी कर सकते है। 'कूर्मपुराण' के वचन से निश्चित होता है ''स्वप्न दिखलाने वाले वे हैं और नष्ट

भी वे ही करते हैं, उनकी इच्छा से दोनों बातें होती हैं क्योंकि बन्धन और मोक्ष उन्हीं के वश की बात है।''[1] मोक्ष के स्वरूप को जानने के साथ-साथ बन्धन का स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है। ''आत्मा'', शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न है, परन्तु अज्ञानता के कारण आत्मा, शरीर इन्द्रिय अथवा मन से अपना पार्थक्य नहीं समझती। इसके विपरीत वह शरीर इन्द्रिय और मन को अपना अंग समझने लगती है। इन विषयों के साथ वह तादात्म्य स्थापित कर लेती है, इसे ही बन्धन कहते है। बधन की अवस्था में मानव कुछ गलत धारणाओं को स्वीकार कर लेता है, जैसे- अनात्म तत्त्व को आत्मा समझना, क्षणिक वस्तु को स्थायी समझना, दुःख को सुख समझना, अप्रिय वस्तु को प्रिय समझना, कर्म एवं कर्मफल का निषेध करना, अपवर्ग के सम्बन्ध में सन्देह करना। बन्धन ही अवस्था में आत्मा को सांसारिक दुःखों के अधीन रहना पड़ता है। बन्धन की अवस्था में आत्मा को निरन्तर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार जीवन के दुःखों को सहन करना तथा बार-बार जन्म ग्रहण करना ही बन्धन है। बन्धन का अन्त ही मोक्ष है।

भारतीय दर्शन में चार्वाकों को छोड़कर सभी सम्प्रदाय मोक्ष के आदर्श में विश्वास करते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध, शांकर वेदान्त सभी इस बात में एकमत है। शंकराचार्य की यह विशेषता है कि वे ज्ञान को ब्रह्म-ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। ब्रह्म चैतन्यरूप है। अतः वे ज्ञान की विज्ञानवादी व्याख्या प्रस्तुत करते है। इसके विपरीत गौतम, कणाद, कपिल, प्रभाकर एवं कुमारिलभट्ट ज्ञान की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इन विचारकों के अनुसार-संसार की वस्तुओं में आत्मा केवल एक वस्तु है। मोक्ष आदर्श एवं ज्ञान-साधन के अतिरिक्त एक तीसरी बात भी है जिसमें प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक एकमत है और वह यह है कि ''मोक्ष शाश्वत है।'' एक श्रुति कहती है- 'जो एक बार मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, वे पुनः लौटकर नही जाते।[2] इसी प्रकार श्रुति कहती है- ''मुक्ति प्राप्त लौटकर नहीं आते।''[3] बौद्धों का निर्वाण, नैयायिकों का अपवर्ग, वैशेषिकों का निःश्रेयस, योगियों का कैवल्य एवं साख्य और वेदान्तियों की मुक्ति सभी शाश्वत है। वे इस बात को स्वीकार

---

1 स्वप्नादिबुद्धिकर्त्ता च तिरस्कर्त्ता स एव च।
तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ।। इति कौर्मे। -पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ.189

2 बृह. 6/2/15 तेषां न पुनरावृत्तिः।

3 छान्दो. 8/15/1, न च पुनरावर्तते।

करते है कि मोक्ष प्राप्त करने पर हमारे सभी भौतिक बन्धन विनष्ट हो जाते है।[1] शंकराचार्य के अनुसार कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की भावना सांसारिकता या बन्धन है।[2] ज्यों ही कर्तृत्व भोर्क्तृत्व की भावना का परित्याग कर हम ज्ञातृत्व प्राप्त कर लेते है, हमें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु होने के कारण जीवन-मरण के चक्र से तथा परिणाम स्वरूप सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से हमेशा के लिए मुक्ति है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'साध्य' पद को भी स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। भारतीय दर्शन में 'प्रतिज्ञा वाक्य' के समान साध्य को भी समझा जाता है, और साध्य की सिद्धि तथा इसकी प्राप्ति ही मुख्य प्रयोजन हो जाता है। पाश्चात्य दर्शन के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य नैतिक या धार्मिक जीवन तथा मानवता की सेवा है। परन्तु भारतीय ऋषियों के अनुसार ये केवल साधन मूल्य है। साध्य मूल तो सभी दुःखों का आत्यन्तिक अभाव तथा जीवन मरण के चक्र से मुक्ति पाना है।

भारतीय दर्शन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरूषार्थ स्वीकार किये गये हैं। इनमें मोक्ष को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और इसे परम पुरूषार्थ कहा गया है। मनुष्य जरा और मृत्यु से बेचैन है, वह इसके पार जाना चाहता है इसी कारण अपने साध्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। इसका स्पष्ट उदाहरण उपनिषदों में प्राप्त होता है- आत्मज्ञान के लिए ही देवर्षि नारद आत्म ज्ञानी सनत् कुमार के पास जाकर आत्मविद्या की प्रार्थना करते हैं जिससे सभी दुःखों का नाश हो तथा परमश्रेय की प्राप्ति हो- ''मैने समस्त वेद, इतिहास, पुराण, गणितशास्त्र, वर्णशास्त्र, नीतिशास्त्र सभी का अध्ययन किया है, परन्तु मुझे दुःख है कि इतना ज्ञान मुझे शोक-सागर के पार न उतार सका। मैंने गुरुओं से सुना है कि आत्म ज्ञान रूपी सेतु से ही शोक सागर को पार किया जा सकता है।'' इससे स्पष्ट है कि आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है और मोक्ष का सोपान है। इसी दृष्टि से कठोपनिषद् में नचिकेता ब्रह्मज्ञानी के पास जाकर आत्मविद्या के लिए प्रार्थना करता है, महात्मा बुद्ध ने जरा-मरण पर विजय प्राप्त करने के लिए ही घर और संसार को छोड़ा।

मध्वाचार्य ने अपने दर्शन में साध्य का जो स्वरूप बताया है उसका वर्णन ही यहाँ हमारा प्रयोजन है। साध्य स्वरूप के अन्तर्गत मध्वाचार्य ने भक्ति

---

1 शास्त्रदीपिका, 1/1/5, सोऽयं प्रपञ्च सम्बन्धो बन्धस्तद्विमोक्षश्च।

2 शारीरिक भाष्य, 2/3/28 कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-लक्षणं संसारित्वम् ।

के अतिरिक्त चतुर्विध मुक्तियों आलोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सामुज्य का भी कथन किया है। पिछले अध्याय में भक्ति के दो रूपों की चर्चा हुई है- साधन भक्ति और साध्य भक्ति। साधन भक्ति के अन्तर्गत मुख्य रूप से नवधा भक्ति का वर्णन किया जाता है जो साध्यभक्ति की प्राप्ति में सहायिका है। पिछले अध्याय में साधनभक्ति की व्याख्या ही प्रकृत थी, इसलिए उसका उल्लेख किया गया। प्रस्तुत अध्याय में साध्य भक्ति के स्वरूप का विश्लेषण किया जा रहा है, क्योंकि आचार्य मध्व के अनुसार वही जीव का सर्वोच्च साध्य है।

भक्तियोग- मध्वाचार्य 'भक्ति' के स्वरूप का वर्णन करते समय यह कहते हैं कि भक्ति स्वयं 'मुक्ति' है। सच्चा 'तत्त्वज्ञान' 'भक्ति' का गौण प्रभाव है। भक्ति न केवल ज्ञान को ही उत्पन्न करती है वरन् साक्षात्कार की भी प्राप्ति करवाती है। इसलिए यह माना जाता है कि 'भक्ति' 'तत्वज्ञान' से अधिक उच्च है जो उसका गौण प्रभाव माना जाता है। सच्चा भक्त ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार अपनी इच्छानुसार या तो उसकी शक्तियों के साहचर्य में अथवा उनसे पृथक् उसके त्रिविध रूप में अथवा उसके किसी एक रूप में कर सकता है। एक व्यक्ति में शुभ कर्मों का प्रभाव स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होता, वरन् 'भक्ति' की उत्पत्ति के द्वारा परमेश्वर की संतुष्टि में सफलता की प्राप्ति होता है।

उपनिषदों के 'निदिध्यासन' का अर्थ भगवान् के नाम एवं विभूति के कीर्तन द्वारा उसकी उपासना करना होता है, जब कोई व्यक्ति परमेश्वर के प्रति पूर्ण आसक्ति से उसकी उपासना करता है, तब उसके 'कर्म' के सभी बंधन टूट जाते हैं किन्तु अपने मन में परमेश्वर की ओर उन्मुख होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को उत्पन्न करना तथा उसके नाम एवं विभूतियों के कीर्तन में परम संतोष की प्राप्ति करना वस्तुतः कठिन होता है। सच्चे भक्तों के साहचर्य से एक व्यक्ति का मन क्रमशः परमेश्वरोन्मुख होता है, तथा 'भागवत पुराण' जैसे धार्मिक साहित्य के अध्ययन से यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल बनती है। इसके फलस्वरूप मन रजस् , तमस् से मुक्त हो जाता है, और परमेश्वर के प्रति आसक्ति में अधिक विस्तार होने पर परमेश्वर के स्वरूप एवं उसके साक्षात्कार का ज्ञान उदित होता है, फलतः अहंकार नष्ट होता है, सकल संशय विलीन होते है, तथा कर्म का सर्व बंधन नष्ट होता है।

यदि 'भक्ति' की चरम सफलता प्राप्त कर ली जाती है तो फिर कहना ही क्या है, किन्तु यदि भक्ति का अनुष्ठान वर्तमान जीवन में सफलतापूर्वक न किया जा सके तो भी भक्त के भाग्य में कोई दण्ड नहीं होता, क्योंकि भक्ति-

रसिक को ज्ञान अथवा कर्म के अनुष्ठान का कोई अधिकार नहीं होता,[1] परमेश्वर सर्वमानवों की चेतन प्रक्रियाओं में अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करता है, और वह सर्वान्तरात्मा है।[2] और केवल उसी की उपासना की जानी चाहिए। जो मनुष्य भक्ति-मार्ग में है उसे आत्म-चिन्तन के हेतु दुःखमय के प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वयं भक्ति भक्तिमय भावावेश के सम्बल से एक सहज व सरल ढंग से आत्मचिन्तन उत्पन्न कर देगी।

इस प्रकार 'भक्ति' शाश्वत अपरोक्षानुभूतियों की अवस्था है जो बन्धन की अशुद्धताओं को पूर्ण निवृत्ति के पश्चात् भी विद्यमान रहती है। परमेश्वर सर्व वस्तुओं का प्रदाता है, उसकी इच्छा से निकृष्टतम मनुष्य भी देवता में रूपान्तरित हो सकते है, और देवता भी निकृष्टतम मानव में रूपान्तरित हो सकते हैं। भक्ति का अस्तित्त्व सकल अशुभों का सर्व-निवारक माना जाता है, इस प्रकार 'भक्ति' न केवल सर्व प्रकार के दोषों को दूर करती है, अपितु उसकी शक्ति से 'प्रारब्धकर्म' भी नष्ट हो जाते हैं। अतः एक सच्चा भक्त न सामान्य मुक्ति की कामना करता है न किसी अन्य वस्तु की वरन् केवल भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने के लिए चिंतित रहता है। इसलिए हमारा चरम लक्ष्य भक्ति ही होना चाहिए क्यों कि भक्ति स्वरूपतः मुक्ति से एकरूप होती है।

भक्तियोग अविच्छिन्न-मनोगति रूप ही हैं भगवान के गुणों के श्रवण मात्र से सागर में गंगा के निरन्तर प्रवाह की भाँति उनमें चित्त की अविच्छिन्न गति रूप जो अहैतुकी और अव्यवहिता भक्ति है, वही भक्तियोग हैं। अहैतुकी का अर्थ है कलाकांक्षारहित। जिस भक्ति में कोई हेतु अर्थात् किसी फल विशेष की कोई इच्छा नहीं है वह 'अहैतुकी' भक्ति है। जब भगवान में प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़ रूप धारण कर लेता है, तब यह भक्ति स्वयं रसरूप हो जाती है, ऐसी भक्ति की प्राप्ति के पश्चात् भक्त को किसी फल की आंकांक्षा नहीं रह जाती हैं। इस प्रकार एक भक्त के लिए भगवान के समान अन्य कोई वस्तु वांछनीय नहीं होती, यही भक्ति भक्तियोग की श्रेणी में आ जाती हैं। इस प्रकार ईश्वर के माहात्म्य के पूर्ण ज्ञान सहित उसके प्रति सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह में 'भक्ति' निहित होती है, और केवल उसी भक्ति के 'मुक्ति' मिल सकती है।

---

1 भक्तिरसिकस्य कर्मानाधिकारात् ----
(स्कन्धपुराण, रेखाखण्ड से उद्धरित) पृ. 460

2 सर्वेषां वृत्तिभिः अनुभूतं सर्वं येन स स्कैव सर्वान्तरात्मा। - वही, पृ. 60

ईश्वर का अनुग्रह- एक भक्त में भक्ति का आविर्भाव उसमें भगवान की आत्मसिद्धिमय शक्ति के रूप में अभिव्यक्त भगवदिच्छा के कारण होता है, तथा भगवान की इच्छा की ऐसी अभिव्यक्ति की व्याख्या उसकी दया के रूप में की जानी चाहिए। इसलिए किसी भी व्यक्ति में भक्ति के अविर्भाव का यथार्थ कारण भगवान होता हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि न केवल 'भक्ति' का उदय बल्कि इन्द्रिय शक्तियों के व्यापार तक भगवान की इच्छा के प्रभाव से होते हैं, इस प्रकार भगवान मानव के सकल व्यवहार में आत्म-सिद्धि की ही प्राप्ति करता है, यद्यपि केवल भक्ति में ही उसके उच्चतम एवं सर्वाधिक आनन्दमय स्वरूप की आत्माभिव्यक्ति भक्त की संतुष्टि के लिए होती है, अतएव इसे उसके विशेष अनुग्रह का कार्य समझना चाहिए।

मध्वाचार्य अपने ग्रंथ 'पूर्वप्रज्ञभाष्य' में ईश्वर के अनुग्रह को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- **परमात्मापरोक्ष्यं च तत् प्रसादादेव न जीवशक्त्या इति वक्तुम् उच्यते ।** अर्थात् परमातमा का प्रत्यक्ष उसी की कृपा से होता है, जीव की शक्ति से नहीं ऐसा कहते हैं।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।[1]

उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए मध्वाचार्य कहते है- प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों से उन्हें नहीं देखा जा सकता, एकमात्र उनकी कृपा से ही उनका प्रकाश मिलता हैं उनके अभिध्यान, लगाव, तत्त्वचिन्तन के अभ्यास से अन्त में विश्व माया की निवृत्ति हो जाती हैं। ऐसा श्रौत सिद्धान्त है। उनका प्रकाश मिलना असंभव नहीं है, क्यों कि वे अनन्यशक्ति हैं जैसा कि नारायणाध्यात्म ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख है - नित्य अव्यक्त होते हुए भी भगवान दृष्टिगत होते हैं, वे अपनी निज शक्ति से प्रकाशित होते हैं, उनकी कृपा के विना भला परमात्मा को कौन देख सकता है।[2]

मध्वाचार्य कहते हैं -'जीव' ईश्वर का एक अंश माना जाता है और ईश्वर का अंश होने के कारण उसमें ईश्वर का पूर्णत्व नहीं होता, अतएव वह परम तत्त्व एवं सर्व वस्तुओं के चरम दृष्टा के समान सर्वज्ञ नहीं हो सकता हैं।

---

1 पूर्णप्रज्ञभाष्य

2 ''नित्यव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तितः।
तमृते परमात्मानं कः पश्येतामितं प्रभुम् ।''
इति नारायणाध्यात्मे। - पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 198

यहाँ पर जीव और ब्रह्म में भेद दृष्टिगोचर होता है। 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' ग्रंथ में भेद दिखाते हुए कहते हैं कि 'जीवों का दूसरा ज्ञान है, परमात्म का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान नित्यानन्दव्ययपूर्ण कहा गया है।' इत्यादि में भेद दिखलाया गयाहै। इस प्रकार की अलौकिकता होने से, ब्रह्मानन्द आदि परम ही है।[1] मध्व ने जीव का आनन्द और परमात्मा का आनन्द भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। यहाँ पर यह भी जानना आवश्यक है कि परमात्मा कर्म के दोनों पहलुओं पाप और पुण्य का फल प्रदान करते हैं, इस विशेषता से भी निश्चित होता है कि वे ही फल देते हैं।, कोई और नहीं देता। 'पुण्य से पुण्य लोक देते हैं, पाप से पाप लोक देते हैं।' इस व्यपदेश से परमात्मा का फलदातृत्व निश्चित होता है।[2] इस प्रकार जब भगवदिच्छा से भक्त में भक्ति का आविर्भाव होता हक्तबभगवदिच्छा से ही वह मोक्ष प्राप्त करता है, इसका कारण यह है कि फल ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है।

भक्ति और मुक्ति- आचार्य मध्व भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि जब एक भक्त भगवान की महानता अथवा ऐश्वर्य की भावना से उसके प्रति अनुरक्त होता है, तब ऐसी मनः स्थिति 'आनन्द' अथवा 'प्रीति' का एक उदाहरण नहीं मानी जाती, परन्तु जब भक्ति भगवान् की सेवा के रूप में अथवा उस पर अपरोक्ष आश्रय के रूप में एक विशुद्ध भावनात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेती है तब भक्ति 'प्रीति' कहलाती है। भगवान में ऐसी प्रीति भगवत-कृपा से सहज ही प्रवाहित होती है, और वह अधिक प्रयत्नों से उत्पन्न नहीं होती तथा वह मुक्ति से श्रेष्ठ होती है। यह प्रीति इतनी तीव्रता से विकसित होती है कि भक्त पूर्णतः आत्म-विस्मृत हो जाता है और स्वयं को भगवान् से एकरूप अनुभव करने लगता हैं। इस चरम अवस्था में भी भक्त यही प्रार्थना करता है, हे ईश्वर हमें मुक्ति नहीं चाहिए, हमें आपकी भक्ति ही चाहिए। हमें ईश्वर में परमानन्द की प्राप्ति होनी चाहिए, ईश्वर के प्रति ऐसा सहज एवं स्वतः स्फुर्त अनुराग ही भक्ति कहलाता हैं। 'विष्णुपुराण' से ज्ञात होता है कि कृष्ण के प्रति गोपियों की जो भक्ति है, वह भक्ति ही प्रेमाधिक्य के कारण गोपियों को मुक्ति की प्राप्ति करा देती हैं 'करन्य' के अनुसार-ईश्वर के ऐश्वर्य के प्रत्यय सहित 'भक्ति- मोक्ष को उत्पन्न करती हैं। 'विष्णुपुराण' में ही प्रहलाद यह इच्छा व्यक्त

---

1 ''अन्यज्ज्ञानं तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च।
नित्यानन्दव्ययपूर्ण परज्ञानं विधीयते।।'' इति भेदः - पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 200

2 परस्य कर्मणश्चोभयोः कालकारणत्वेऽपि न कर्म परप्रवर्त्तकम्। पर एव कर्मणः प्रवर्त्तकः। ''पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापं'' इति हेतुव्यपदेशात्। - अनुत्याख्यान, पृ. 30

करता है कि वह ईश्वर के प्रति उसी प्रीति का अनुभव करे, जिसका अविवेकीजन विषयों के प्रति अनुभव करते हैं।[1] बादरायण के अनुसार- यह मोक्ष शुद्ध चैतन्य के रूप में आत्मन् के स्वरूप में निहित होता है। शाण्डिल्य के अनुसार मोक्ष आत्मन् की अनुभवातीतता के प्रत्यय से सम्बन्धित होता है।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि केवल ईश्वरोन्मुखी भक्ति से भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन-मुक्ति एवं विदेह-मुक्ति - मोक्ष परलोक की चीज है, इसलिए कल्पना की उपज मात्र है, फलतः इसे दर्शन का साक्ष्य मुश्किल से ही माना जा सकेगा। फिर भी, ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है, क्यों कि भारतीयों की बुद्धि में इस लोक और इस जीवन में साध्य आदर्श का विचार निरन्तर बना रहा। कठोपनिषद् में कहा गया है- कि ''जब हृदय की समस्त कामनाएं समाप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और इस लोक में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[2]

जीवनमुक्ति का तात्पर्य यह है कि जिस क्षण जीव को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। जीवन-मुक्ति में देह का अस्तित्व बना रहता है। मुक्त जीव अपने संचित एवं क्रियमाण कर्मों को तो ध्वस्त कर लेता है, पर जब तक उसके प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं तब तक उसका देह बना रहता है। प्रारब्ध कर्म के समाप्त होते ही उसका देह नष्ट हो जाता है। इसे 'विदेहमुक्ति' कहते हैं।

सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और उत्क्रमण प्रकार- सद्योमुक्ति वह मुक्ति है जो ज्ञान प्राप्त होते ही प्राप्त हो जाती है। क्रममुक्ति वह है जो क्रमशः प्राप्त होती है। जिन ज्ञानियों और भक्तों की सद्योमुक्ति होती है, उनके प्राणादि का लय भूतों में होता है, और जिनकी क्रममुक्ति होती है, उनके प्राणादि का उनके साथ ही उत्क्रमण होता है। देवयान मार्ग से चलने वाले मनुष्य जिस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं, वही क्रममुक्ति है। वह सापेक्षिक मुक्ति है क्यों कि यह प्रलय-पर्यन्त ही रहती है। प्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि होती है तो ब्रह्मलोक के निवासी पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं। इसके विपरीत, सद्योमुक्ति वास्तविक मुक्ति है क्यों कि

---

1 या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी तामनुस्मरतः सा मे हृदयान् मापसर्पतु। विष्णु-पुराण 1.201

2 कठोपनिशद 2.3.14

उसको पाने वाला संसार चक्र से मुक्त हो जाता है। सद्योमुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

मध्वाचार्य चतुर्विध मुक्तियों को स्वीकार करते है - सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य, सायुज्य 'सालोक्य मोक्ष' का अर्थ है- वैकुण्ठ में निवास करना तथा वहाँ ईश्वर के सहवास में रहकर उसके निरन्तर दर्शन से संतोष एवं आनन्द का अनुभव करना।

''सामीप्य मोक्ष' का तात्पर्य है - ईश्वर के समीप निरन्तर निवास, जिसका उपभोग संतगण करते हैं।

'सारुप्यमोक्ष' का उपभोग ईश्वर के परिचारक करते हैं जिनके ईश्वर के समान ही ब्राह्मरूप होते हैं।

'सायुज्य मोक्ष' का अर्थ है आत्माओं का ईश्वर के शरीर में प्रवेश तथा स्वयं ईश्वरके शरीर में ईश्वर के आनन्द के साथ उनका तादात्म्यीकरण।

'सृष्टि मोक्ष' यह सायुज्य मोक्ष का एक प्रकार होता है- इसका अर्थ है उन्हीं शक्तियों का उपभोग करना जो ईश्वर में होती है तथा उक्त उपभोग केवल ईश्वर के शरीर में प्रविष्ट होकर ईश्वर की विशिष्ट शक्तियों से अपना एकाकार करने में सम्भव हो सकता है।

चतुर्विध मुक्ति का उल्लेख श्रीमद्भागवत् में भी प्राप्त होता है, यहाँ सायुज्य मुक्ति को लयात्मक कहा गया है वह तो ठीक है, परन्तु जहाँ सायुज्य का कथन किया गया है। वहाँ उसे एकत्व रूप ही कहा गया है।[1] जिसका खण्डन आचार्य मध्व इस प्रकार करते हैं - जीव ब्रह्म का अंश है, और ब्रह्म अंशी है, जीव खण्ड है और ब्रह्म पूर्ण है। अंशी का स्वभाव अंश में, और पूर्ण का स्वभाव खण्ड में निश्चित रूप से अनुवर्तित होता है, इसलिए जीव ब्रह्म स्वभाव ब्रह्मात्मक है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीव ही ब्रह्म है। जीव प्रत्येक अवस्था में ब्रह्म से हीन है और उनका सेवक हैं अन्य वैष्णव दार्शनिकों की भाँति मध्व भी जीव और ब्रह्म के मध्य प्रत्येक स्तर पर इतना अन्तर अवश्य स्वीकार करते हैं कि भक्ति के लिए अवकाश निकल आए, क्यों कि 'आत्मा का ब्रह्मरूप से ज्ञान नहीं, अपितु ब्रह्म का आत्मरूप से ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।' इस कथन से सिद्धान्त में अन्तर का जाता है और यह

---

1 ''सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारुप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।। -श्रीमद्भाग. 3.29.13

स्पष्ट हो जाता है कि परममुक्ति दशा में भी जीवों की भगवन्नियम्यता समाप्त नहीं होती है, इसलिए सायुज्य को सर्वथा अभेदरूप नहीं माना जा सकता है।

मुक्त पुरुष के भोग की अलौकिकता- भोग का अर्थ शरीर एवं मन के सुख-दुःखों की साधारण अनुभूतियाँ है। ईश्वर में एक विशिष्ट 'आवेश' होता है अथवा वह भक्त को एक विशेष प्रेरणा प्रदान करता है, जिसके कारण वह भगवान के पूर्ण आनन्द के स्वरूप की अनुभूति करने में समर्थ होता है। जो व्यक्ति भगवान के आनन्दमय स्वरूप का उपभोग करने का प्रयास करता है वह सहज ही बाधाओं का निवारण कर लेता है। सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति से उत्पन्न मानसिक अस्थिरता भगवद् अनुग्रह की प्राप्ति में बाधक होती है, कर्म के फलों के त्याग द्वारा उनका निवारण किया जा सकता है।

आचार्य मध्व ने पूर्णप्रज्ञभाष्य के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थपाद ने भोग का ही वर्णन किया है, जिससे भोग का स्वरूप और प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त होता है। मध्व ने परम् ज्योति शब्द से परमात्मा का ही उल्लेख किया है- परज्योति, परब्रह्म, परमात्मा आदि शब्दों से एकमात्र हरि को ही पुकारना चाहिए किसी और को नहीं।[1] **''परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते''** इति च **''स्तं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति''** अर्थात् ''परम ज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप मुक्तजीव प्राप्त करता है''। ''इस सेतु को पारकर विमूढ़ व्यक्ति सचेष्ट हो जाता है'' इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। मौद्गल्य श्रुति में कहा गया है- ''इस घोर अपवित्र नदी को पारकर सेतु को प्राप्त कर उसी सेतु से मुक्त जीव मुदित, प्रमुदित और आनंदित होता है।''[2] मध्वाचार्य कहते हैं- जो भोग परमात्मा भोगते है वे ही मुक्त जीव भी भोगते है। चतुर्वेदशिखा में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है- मैं जिन मनोरम शब्दों को सुनता हूँ जिन सुरम्य वस्तुओं को देखता हूँ, जिन वस्तुओं को सूंघता हूँ, उन्हें ही ये मेरे भक्त शरीर से छूटकर अनुभव करते हैं।' जब यह जीव इस मर्त्य जगत से मुक्त होकर चिन्मात्री जो जाता है तब उसी रूप से देखता, सुनता मनन करता, विचार करता है, उसे ही 'मुक्ति' कहते हैं।

---

1 'परं ज्योतिः परं ब्रह्म परमात्मादिका गिरः।
सर्वत्र हरिमेवैकं ब्रयुर्नान्यं कथंचन।।'' -पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 283

2 ''इमां घोरामशिवां नदीं तीर्त्वैतं सेतुमाप्यैतेनैव
सेतुना मोदते प्रमोदत आनन्दी भवति'' इति मौद्गल्यश्रुतेः।

भगवत्प्राकट्य के पश्चात् जीव की क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख मध्व ने चतुर्थ अध्याय के चतुर्थपाद में किया है- मुक्त जीव को भोगादि में किसी प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता है, यदि वह पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्प नहीं करते है। पिता सामने उपस्थित हो जाते हैं। **'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'।**

बादरि आचार्य की मान्यता है कि मुक्त जीवों का एकमात्र चिन्मात्र देह ही रहता है। कौण्ठरत्य श्रुति बादरिमत को पुष्ट करती है कि उस स्थिति में वह शरीर रहित रहता है, इसीलिए जीव को उन्मथित करने वाले पाप-पुण्य उसे स्पर्श नहीं कर पाते।[1] मध्वाचार्य कहते हैं- जिस प्रकार स्वप्नावस्था में बिना शरीर के ही भोगानुभूति होती है वैसे ही मुक्त जीव भी बिना शरीर के भोगानुभूति करते हैं, तथा मुक्त जीव स्वेच्छा से तेज रूप शरीर धारण करके जाग्रत अवस्था की तरह भोगान्भूति करके उस शरीर को छोड़ देते हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ दिया में स्थित तेल को ही ग्रहण करती है धूँआ को नहीं, उसी प्रकार मुक्त जीव शरीर में प्रविष्ट होकर उसको प्रकाशित करते हुए पुण्यों को ही भोगता है, दुःख आदि को नहीं भोगता।'' इस स्थिति में वह आन्तरिक कष्टों से मुक्त हो जाता है।[2] इस प्रकार दिव्य लोकों को प्राप्त मुक्त जीवों की ही उक्त स्थिति होती है।

भोग की अलौकिकता की व्याख्या के पश्चात यह ज्ञात होता है कि जीव का आविर्भाव भगवान् के स्वरूप-बल से ही होता है। इसी प्रकार जीव का भोग भी भगवत्सामर्थ्य से ही होता है, स्वयं अपनी सामर्थ्य से नहीं। जीव अपनी नैसर्गिक ज्ञान क्रिया से ब्रह्म के साथ भोग नहीं कर सकता, अपितु भगवदाविष्ट होकर ही करता है। भगवान् विष्णु उसमें अवशिष्ट हो उसे भी अपने समान कर लेते हैं। ब्रह्म के साथ यह भोग लौकिक व्यापार रूप नहीं है। जगत्सम्बंधी जो शरीर इन्द्रिय और मन के व्यापार है। उनसे यह भोग सर्वथा अस्पष्ट है।

मध्वाचार्य कहते हैं- जब जीव का भोग भगवत्सामर्थ्य से होता है तो जीव भी स्वयं कोई स्वातंत्र्य नहीं रखते, उनकी भगवान ने अपनी इच्छा मात्र से

---

1 'अशरीरोवाव तदा भवत्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियप्रिये स्पृशतो याभ्यां ह्येष उन्मथ्यते' इत्येवं कौण्ठरत्यश्रुतावाहहि।।

2 शरीरमनुविश्यापि तत्प्रकाशयन्तः पुण्यानेव भोगाननुभवन्ति न तु दुःखादीन् यथा प्रदीपो दीपिकादिषु प्रविष्टः तस्थं तैलाघेव मुक्ते न तु काष्र्ण्यादि। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छिोकान्हृदयस्य भवति।'' - पूर्णप्रज्ञभाष्य पृ. 288

सृष्टि की है, तथा जगत् व जीवों की सृष्टि करने के पश्चात् वह उनमें प्रविष्ट होकर उनके अन्तर्यामिन के रूप में स्थित रहता हैं इसलिए 'जीव' जड़ जगत् के विषयों के समान ही प्राकृतिक अनिवार्यता के अधीन है, उनमें कर्तृत्व अथवा इच्छा की कोई स्वतंत्रता नहीं होती हैं। मनुष्य में प्राप्त होने वाले संकल्प और स्वतः स्फूर्त इच्छा भी मनुष्य के माध्यम से क्रियाशील हरि इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। जैसे गाय की प्राण-शक्ति से उत्पन्न दूध हमें गाय द्वारा दिया हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार जब एक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता हुआ अथवा एक विशेष ढंग से आचरण करता हुआ किसी वस्तु का संकल्प करता हुआ दिखाई देता है, तब वह स्वयं कर्त्ता नहीं होता वरन् माध्यम होता है जिसके द्वारा परमेश्वर कार्य करता है।

मुमुक्ष के कर्त्तव्य - मोक्ष के प्रसंग में मुमुक्षुओं के लिए उपास्य का नियम भी जानना आवश्यक है। आचार्य मध्व मुमुक्षुओं के लिए नियम भी बताते हैं- प्रधान फल मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञानानंदसत् स्वरूप ब्रह्म ही उपास्य हैं। ब्रह्मतर्क में कहा गया है- सच्चिदानन्द ब्रह्म की उपासना ही, समस्त मुमुक्षुओं को फलसाम्य की दृष्टि से करना चाहिए। ब्रह्म में ही पूर्ण मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति देखी जाती है।[1] ''ब्रह्म की उपासना करो, ब्रह्म की परिचर्या करो, उनके गुणों का श्रवण करो और तत्त्वज्ञान करो, जैसे ब्रह्म की परिचर्या करो, वैसे ही मेरी भी परिचर्या करके, हमारे ऐसे ग्रन्थ जो श्रेष्ठ हैं, उनकी भी उपासना और परिचर्या करके उनसे भगवत्त्व को श्रवण करो वे तुम्हें ब्रह्म तत्त्व बतलायेगें।

मध्व ज्ञान सापेक्ष भक्ति स्वीकार करते हैं, इसी कारण कहते हैं- ज्ञान से जो मोक्ष मिलता है उसमें अग्निहोत्र की अपेक्षा नहीं होती। जिसकी मनोवृत्ति भगवद् ज्ञान से पूर्ण हो जाती है, उसका मोक्ष निश्चित हो जाता है, उसे शुभ कर्म करने की विशेष रुचि हो जाती है, अशुभ कर्मों से विरक्ति हो जाती है, उसकी वृत्ति कर्मों के बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्म की ओर लग जाती हैं, देवता आदि में ये विशेषतायें उत्तरोत्तर होती है।[2]

---

1 ''साच्चिदानन्द आत्मेति ब्रह्मोपासा विनिश्चिता।
सर्वेषां तु मुमुक्षूणां फलसाम्यादपेक्षता।'' -पूर्णप्रज्ञभाष्य पृ. 210

2 येषां ज्ञानं समुत्पन्नं तेषां मोक्षो विनिश्चितः।
शुभकर्मभिराधिक्य विपरीतैर्विपर्ययः।। - मध्व सिद्धान्तसार पृ. 500

मुमुक्षुओं के लिए उपासना पर बल देते हुए मध्व कहते हैं- जब तक मोक्ष न हो तब तक उपासना करना चाहिए। भगवान् यह वही है, जिसे मनुष्य मोक्ष पर्यन्त ओंकार रूप से ध्यान करते हैं। शरीर के बाद शरीरान्तर में भी उपासना करना चाहिए। तब तक भगवतत्त्व का श्रवण करो जब तक तुम्हारी वैषयिक इच्छाएँ तुम्हें सताती रहे। ध्यान में जब तक दृष्ट तत्त्व दृष्टिगत न हो जाय तब तक ध्यान करना चाहिए। अनन्तकालीन परमात्मा की भक्ति से ही तत्तव का प्रकाश होता है, दृष्टि खुलती हैं इसलिए मुक्ति पर्यन्त उपासना की विधि स्वाभाविक है, तभी परमात्म प्राप्ति संभव है।[1]

साध्य भक्ति का स्वरूप - ''तत्त्व-संख्यान-विवरण'' ग्रंथ में मध्व साध्य-भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण होता हैं जब तक ईश्वर की इच्छा नहीं होती तब तक परम आनन्द का आविर्भाव नहीं होता। भक्ति परमेश्वर के प्रति एक ऐसे निरन्तर प्रेम प्रवाह में निहित होती है जो सहस्त्रों बाधाओं में क्षत अथवा प्रभावित नहीं हो सकती, जो स्वात्म-प्रेम एवं आत्मीय वस्तुओं के प्रति प्रेम से अधिक होता है, और जो इस ज्ञान से उत्पन्न होता है कि परमेश्वर अनन्त शुभ एवं कल्याणकारी गुणों से सम्पन्न है।[2] और जब ऐसी भक्ति का उदय होता है तब परमेश्वर का 'भत्यर्थ प्रसाद' होता है और जब परमेश्वर का हम पर ऐसा प्रसाद होता है तब हम मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। इसी कारण कहते हैं मोक्ष केवल भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें निरन्तर विशुद्ध स्नेह का समावेश होता है।[3] ईश्वर के माहात्म्य के पूर्ण ज्ञान सहित उसके प्रति सुदृढ एवं सर्वाधिक स्नेह में भक्ति निहित होती है, केवल उसी से मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि भक्ति साधना है, और मोक्ष साध्य है,तथापि साधनावस्था ही सर्वोत्तम होती है।

---

1 'श्रुणु यादवज्ञानं मतिर्यावदयुक्तता।
ध्यानं च यावदीक्षा स्यात्रेक्षा क्वचन बाध्यते।।
दृष्टतत्त्वस्य च ध्यानं यदा दृष्टिर्निविद्यते।
भक्तिश्चानन्तकालीना परमे ब्रह्मणि स्फुटा।
आविमुक्तेर्विधिनित्यं स्वत एव ततः परम् ।'' -
- महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, पृ. 4

2 परमेश्वर भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तावनद्य- कल्याण- गुणत्वाज्ञानपूर्वकः स्वात्मात्मीय-समस्त- वस्तुभ्यः अनेक गुणाधिकः अन्तराम- सहस्त्रेणापि अप्रतिबद्धः निरन्तर-प्रेम-प्रवाहः । - अनुव्याख्यान पर 'न्याय सुधा'।

3 महाभारत-तात्पर्यनिर्णय, पृ. 5

परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही परमेश्वर की अपरोक्षानुभूति का उदय होता है, जिससे सकल दुःखों का नाश हो जाता है। उपनिषदों में कहा गया है कि एक व्यक्ति को ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् पाठों का श्रावण करना चाहिए तथा उनका ध्यान करना चाहिए। ऐसी साधना व्यक्ति को परमेश्वर के निकट ले जाती है, क्यों कि उसके द्वारा ही ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव होती है।

साध्य भक्ति की पराकाष्ठा- आचार्य मध्व साध्य भक्ति का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि साधना के परिपक्व होने पर यह भक्ति साध्यरूपा हो जाती है। साध्य भक्ति को प्राप्त करने के पश्चात् मुमुक्षु अपने अनुभवों का उपभोग कैसे करते हैं? इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं- साध्यभक्ति की अवस्था में पहुँचने पर मुक्त प्राणी अपने संकल्प मात्र से आनन्दमय अनुभवों के भागी बनते हैं, किन्तु अन्य लोगों का मत है कि मुक्त प्राणी आनन्दमय अनुभवों का उपभोग अपने प्रयत्नों के अनुसार स्वयं अपने शरीरों के माध्यम से करते हैं। चूँकि मुक्त अवस्था में एक व्यक्ति समस्त प्रकार के आनन्दमय अनुभवों का अधिकारी होता है अतः उसे चरम श्रेय की अवस्था मानी जा सकती है। किन्तु मुक्त व्यक्ति उन सभी आनन्ददायी अनुभवों को प्राप्त नहीं कर सकता जो परमेश्वर में विद्यमान होते हैं। प्रत्येक जीव अपने अधिकारों एवं योग्यताओं से सीमित होता है, और उन सीमाओं के अन्तर्गत ही उसकी इच्छाएँ फलीभूत हो सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मुक्त व्यक्ति अपनी योग्यता एवं अधिकारों की सीमाओं में कुछ विशेष आनन्द का अधिकारी होता है।

साध्य भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचने पर कुछ मुक्त जीव यही जीवन्मुक्त हो जाते हैं, कुछ की यथा स्थिति रहती हैं, कुछ मुक्त जीव अन्तरिक्ष में कुछ स्वर्ग में, कुछ महर्लोक में, कुछ जनलोक में, कुछ तपोलोक में, कुछ सत्यलोक में रहते हैं जो महाज्ञानी हैं वे क्षीरसागर में भी पहुँच जाते हैं। वहॉ भी ज्ञानाधिक्य के तारतम्य से भगवान की निकटता प्राप्त करते हैं। वे सालोक्य, सारूप्य सामीप्य सायुज्य के क्रमशः अधिकारी होते हैं।

मनुष्य वर्ण और आश्रम भेद से तथा राजा मनुष्य गन्धर्व देवपितर आदि आजानजाः कर्मज, और तात्त्विक देव एवं इन्द्र, रूद्र, ब्रह्म आदि क्रमशः उत्तरोत्तर भगवत् साहचर्य के आनन्द भोग, ज्ञान, ऐश्वर्य की प्राप्ति तारतम्य भाव से करते हैं, ये सब क्रमशः सौगुने भाव से उत्तरोत्तर गुणशाली हैं। इस प्रकार वे

सब चिद्‌रूप और प्राकृत दोनों ही रूपों में भोगे बिना ही भोगते हैं, वही उनकी मुक्ति का स्वरूप कहा गया है।[1]

मध्वाचार्य कहते हैं - भक्ति साधनरूपा के पश्चात् सिद्धिरूपा हो जाती है, अतः वही प्राप्य है। इस अवस्था में मुक्त जीवों का ह्रास या वृद्धि नहीं होता है, भगवत स्वरूप को जानने से उन लोगों के बन्धन का कोई कारण ही नहीं रह जाता है। इसलिए साध्यभक्ति को सुखरुपीणी कहते हैं। सुखरुपीणी कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्त जीवों को इस अवस्था में प्रवाहमय वृद्धि, ह्रास नहीं होता, उनको कभी अप्रियता का भी सामना नहीं करना पड़ता है, इसके साथ ही दुःख का भी अनुभव नहीं करना पड़ता है, वे तो सदैव सुख ही भोगते हैं।[2]

पूर्णप्रज्ञभाष्य ग्रंथ से मध्व '**अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्**' सूत्र के माध्यम से कहते हैं- वह मुक्तजीव पुनः नहीं लौटता, वह पुनः नहीं लौटता, समस्त कामनाओं को प्राप्त कर अमृत तुल्य हो जाते हैं। '**न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते सर्वान्कानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवद्' इत्यादि श्रुतिभ्यः।**

---

1 अत्रैव तु स्थितिस्तेषामन्तरिक्षे तु केचन् ।
केचित् स्वर्गे महर्लोके जने तपसि चापरे।।
केचित् सत्ये महाज्ञानी गच्छन्ति क्षीरसागरम् ।
तत्रापि क्रमयोगेन ज्ञानाधिक्यात्समीपगाः।।
सालोक्यं च सरूपत्वं सामीत्यं योग एव च।
इमामारम्य सर्वत्र यावत्सु क्षीरसागरे।
मानुषा वर्णभेदेन तथैवाश्रमभेदतः।।
क्षितिया मनुष्यगंधर्वा देवाश्च पितरश्चिराः श्चिराः।
आजानजाः कर्मजाक्ष्य तात्त्विकाश्च शचीपतिः।
रूद्रो ब्रह्मेति क्रमशस्तेषु चैवेत्तरोत्तराः।
नित्यानन्दे च भोगे च ज्ञानैश्वर्यगुणेषु च।
सर्वे शतगुणोदित्ताः पूर्वस्मादुत्तरो त्तरम् । - पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 291

2 प्रवाहतस्तु वृद्धिर्वा ह्रासो नैवास्ति कुत्रचित् ।
नाप्रियं कञ्चिदपि तु मुक्तानां विद्यते क्वचित् ।
कुत एव तु दुःखं स्यात्सुखमेव सदोदितम् ।
भोगानां तु विशेषे तु वैचित्र्यं लभ्यते क्वचित् । इति नारायणतन्त्रे।
- पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृ. 294

इस प्रकार मुक्त व्यक्ति स्वयं ब्रह्म से तादात्म्य के अनुभव की प्राप्ति करता है तथा ब्रह्म के स्वरूप की स्वयं यह उपलब्धि ही श्रेष्ठतम आनन्द है।

सम्प्रति मध्वाचार्य के मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा जानने के पश्चात् यह भी जानना आवश्यक है, क्योंकि मध्व स्वयं कहते हैं- प्रारब्ध कर्म के नष्ट हो जाने पर शरीर पात के बाद ही मोक्ष होता है। नष्ट न होनेपर अन्य जन्मों में होगा, कोई निश्चित नहीं है। ''धर्मी स्वर्ग जाता है विधर्मी नरक जाता है, भगवद् भक्ति के मोक्ष को निश्चित कहा गया है भगवद् स्वरूप का ज्ञाता निःसंदेह मुक्त होता है। ''जिस समय प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं तभी भगवद् प्राप्ति हो जाती है, यदि नष्ट होने में कुछ कमी रह जाती है, तो अनेक जन्मों में निःसन्देह प्राप्ति होती है।

इस प्रकार सभी दर्शनों में इस शोकातीत अवस्था के पार जाने का मार्ग बतलाया गया है। यह मार्ग सभी दर्शनों में भिन्न-भिन्न है, परन्तु सब का उद्देश्य एक ही है। मार्गो की अनेकता में भी लक्ष्य की एकता का प्रतिपादन, भारतीय दर्शन की विशेषता है। जिस प्रकार गंगा की विभिन्न धाराओं का अन्तिम लक्ष्य समुद्र है, वैसे ही भारतीय दर्शन के विभिन्न मार्गों का उद्देश्य केवल मोक्ष की प्राप्ति है।

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में मध्व द्वारा सुसंयोजित द्वैतवाद के मूल-तत्त्वों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस सम्पूर्ण व्याख्यान से मध्वाचार्य के मौलिक चिन्तन एवं उनके दार्शनिक विचारों को समझने में सुगमता हो जाती है। जहाँ शंकराचार्य पूर्णतः शुद्ध एवं रामानुज प्रकारान्तर से अद्वैत प्रतिपादित करते हैं, वहाँ आचार्य मध्व शुद्ध द्वैत के प्रबल समर्थक हैं।

माध्व-दर्शन के अध्ययन के पश्चात् यह बात स्पष्ट होती है कि इन्होंने वेदान्त के साथ न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य के सिद्धान्तों का समन्वय स्थापित करते हुए एक मिला-जुला दर्शन बनाया। इनके उल्लेखनीय सिद्धान्त इस प्रकार है- पॉच प्रकार का भेद, अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्व का खण्डन, भेद का प्रबल समर्थन, एवं अभेद या अद्वैतवाद का घोर विरोध। इनके अतिरिक्त सविशेष ब्रह्मवाद, परिणामवाद, जगत्सत्यत्व तथा भक्ति का प्राधान्य अन्य महत्त्वपूर्ण धारणाएं हैं।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम-अध्याय विषय-प्रवेश में मध्व से पूर्व की परिस्थितियों का अध्ययन और आकलन किया गया है, जिसमें उनका चिन्तन पोषित हुआ हैं। आर्य संस्कृति, ऋग्वैदिक काल, उत्तरकालीन मन्त्रकाल और ब्राह्मणकाल, बौद्ध धर्म, शंकराचार्य, रामानुज तक की प्रवृत्तियों की व्याख्या के पश्चात् वैष्णव धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय-मध्वाचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में उनका जीवन-परिचय देते हुए कृतियों का वर्णन किया गया है। द्वैतसिद्धान्त-प्रतिष्ठापनाचार्य जगद्गुरू श्रीमन्मध्वाचार्य, दिव्य वायु के तृतीय अवतार कहे जाते हैं। भारतीय जनों को सर्वप्रथम आचार्य मध्व ने बताया कि यह जगत् तथा जीवन सत्य है और इससे संन्यास लेकर भागना व्यर्थ है, क्यों कर्मसंन्यास का अर्थ ज्ञानपूर्वक कर्म करना है।

आचार्य मध्व ने अपने जन्म का वर्णन 'महाभारततात्पर्य निर्णय' ग्रन्थ में किया है। इसमें कहा गया है कि मध्वाचार्य का अवतार शाके 1160 में आश्विन शुक्ला विजयादशमी के मध्याह्न के समय हुआ हैं। इस प्रकार आचार्य

मध्व का आविर्भाव 13 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कर्नाटक राज्य के उडुपी क्षेत्र में मध्यगेह नामक धार्मिक वैदिक ब्राह्मण के घर हुआ था। मध्व के जीवन के सम्बन्ध में जानकारी मध्व के शिष्य त्रिविक्रम के पुत्र नारायणभट्ट द्वारा रचित 'मध्वविजय' और 'मणिमंजरी' से भी प्राप्त होती है।

मध्वाचार्य को अमिश्रित द्वैत का पोषक भी कह सकते हैं। मध्व अपने ग्रन्थ 'तत्त्वोद्योत' में कहते हैं-

पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायिदानवाः।

सर्वज्ञो हरिरामाति तर्कागमदारारिभृत् ॥

अर्थात् अद्वैतियों को वे 'मायि-दानव' (मायावाले दैव्य) कहते हैं जो अज्ञानान्धकार में उछल कूद मचाते हैं और तर्कागमयुक्त द्वैत-सूर्य के उदय होने पर भाग जाते हैं, जिस प्रकार सर्वज्ञ-शंखचक्रयुक्त हरि के आने पर दानव भाग जाते हैं।

आचार्य मध्व की ज्ञान मीमांसा न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। क्योंकि कोई वस्तु निर्विशेष सामान्य मात्र नहीं, अपितु असंख्य विशेषों वाली होती है, इसलिए निर्विशेष ज्ञान असम्भव है। ज्ञान किसी वास्तविक पदार्थ का होता है, उस वस्तु के आकारों वाली बुद्धि वृत्ति के माध्यम से ही ज्ञाता को वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुओं के आकार का तात्पर्य है उसके धर्मों का साक्षी द्वारा ग्रहण जैसी वस्तु हो ठीक उसी रूप का ज्ञान, अर्थात् यथार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमा है जो स्वाभाविक रूप से स्वतः प्रमाण हैं। यदि ज्ञान स्वरूपतः स्वतः सत्य न हो तो उसमें सत्यत्व लाने वाला कोई बाह्य हेतु समर्थ नहीं हो सकता है। साक्षी ज्ञान-स्वरूप एवं स्वयं प्रकाश है, अतः स्वयं को तथा सत्य ज्ञान के सत्यत्व को जानता है। फलतः ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य स्वयंसिद्ध है- उसकी प्रमाणिकता स्वयं उसी में, उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में निहित होती है।

मध्व के अनुसार साक्षी ही सभी प्रमाणों का प्रमाण है, क्यों कि वही समस्त निश्चय, अध्यवसाय या अनुभव के मूल में हैं अन्य वेदान्ती भी मध्व के इस मत से सहमत है कि साक्षी के बिना ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता क्यों कि ज्ञान साक्षी का बोध या पौरूषेय बोध हैं। अतः प्रमाण या वृत्तिजन्य ज्ञान पौरुषेय-बोध-रूप या साक्षी के निर्णय-रूप अनुभव में पर्यवसित हो जाता है।

माध्वदर्शन में यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं। अनुप्रमाण वृत्तिज्ञान को कहते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द भेद से तीन प्रकार का है।

निर्दोष इन्द्रियों से वस्तु के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह छः प्रकार का होता है मन, नेत्र, त्वक् रसना, श्रोत्र और घ्राण में छः इन्द्रियाँ हैं।

'निर्दोष उपपत्ति' अर्थात् व्यक्ति के स्मरण के साथ-साथ लिंग, हेतु, व्याप्य या युक्ति का देश-विशेष में ठीक-ठीक ज्ञान से साध्य, लिंगी या अनुमेय पदार्थ के ज्ञान या प्रमा का जनक साधन अनुमान प्रमाण है।

अनुमान के तीन भेद हैं- अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी।

पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से आगम दो प्रकार का हैं आप्तों से कहे जाने पर ही 'पौरुषेय' प्रमाण हैं। 'अपौरुषेय वेदवाक्य' सभी प्रामाणिक है।

तत्त्वमीमांसा - मध्व द्वैत को सत्य मानते हैं- जो स्वरूपतः भिन्न होता है, वह अभिन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म, जीव और प्रकृति स्वरूपतः भिन्न है, अतः इनमें अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता है। **'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म'** जैसे श्रुति-वचन जीव और ब्रह्म के बीच तथा **एकमेवाद्वितीयम् सर्व खल्विदं-ब्रह्म,** जैसे श्रुति-वचन ब्रह्म और जगत् के बीच अभेद-ज्ञान के लिए नहीं है, बल्कि जगत् की सत्ता, प्रवृत्ति आदि ब्रह्म के अधीन बताने के लिए है, न कि उसे इसका ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध करने के लिये। ब्रह्म ही पूर्ण स्वतंत्र, सत्य का सत्य, नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन तथा सत्ता, प्रतीति एवं प्रवृत्ति का निमित्त है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि असाधारण रूप से एकीभाव की उपेक्षा करके भेदवाद का समर्थन करने में मध्व न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित रहे। साथ ही ब्रह्म को केवल निमित्त-कारण तथा प्रकृति को उपादान कारण मानने में वे न्याय के साथ-साथ सांख्य के द्वैतवाद से प्रभावित लगते हैं, इसी कारण जहाँ मध्व ने वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों की उपेक्षा की, वहीं दूसरी ओर सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में कुछ-एक सिद्धान्तों की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। भेद को बहुत अधिक महत्त्व देने के कारण ही इसकी पृथक् रूप से सिद्धि की गयी है।

मध्व भेद को वस्तुओं का स्वरूप मानते हैं। यह जगत् सत्य है और प्रत्येक पदार्थ अन्य सब पदार्थो से सर्वथा भिन्न हैं। मध्वाचार्य ने पञ्चविध नित्य भेद स्वीकार किये हैं, जिनके ज्ञान को वे मोक्ष-साधक मानते हैं। ये पाँच भेद इस प्रकार हैं- 1. ईश्वर और जीव का भेद, 2. जीव और जीव का भेद 3. ईश्वर और जड़ का भेद 4. जड़ और जड़ का भेद 5. जीव और जड़ का भेद।[1] मध्व का भेद पर इतना दुर्निवार आग्रह है कि उन्होंने मुक्त जीवों में भी ज्ञान और आनन्द के तारतम्य रूपी भेद को स्वीकार किया हैं। मध्वमत के अतिरिक्त किसी अन्य भारतीय दर्शन में यह भेद स्वीकार नहीं किया गया है।

आचार्य मध्व अन्यथा ख्यातिवाद सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, तथा मीमांसा के समान स्वतः प्रामाण्यवाद को प्रामाणिक मानते हैं।

पदार्थ निरूपण - मध्वाचार्य के अनुसार-पदार्थ दस हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव।

मध्वाचार्य ने पदार्थो के वर्गीकरण में पूर्ववर्ती दर्शन-सम्प्रदाय, न्याय-वैशेषिकादि को आधार के रूप में निसंदिग्ध रूप से ग्रहण किया हैं। वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रायः सभी प्रकार के पदार्थ माध्व-मत की पदार्थ-मीमांसा में भी हैं इन पदार्थो के अतिरिक्त 'विशिष्ट' द्रव्य के विभागों की स्वीकृति के रूप में भी प्राप्त होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि विशिष्ट अथवा अंशी को पृथक् पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है। विशेषण की सत्ता स्वीकार कर लेने मात्र से विशिष्ट की सिद्धि हो जाती हैं। मध्व कहते हैं कि विशिष्ट को पृथक पदार्थ इसलिए निरूपित किया कि विशेष नामक पृथक् महत्त्वपूर्ण मान्यता द्वैत-मत में प्रतिपादित है, इसी प्रकार अंशी के नवीन पदार्थ के रूप में ग्रहण करने में ईश्वर की स्वरूपांश एवं भिन्नांश की कल्पना भी है। अवतार ईश्वर के स्वरूपांश एवं जीव उसके भिन्नांश माने गये हैं इन अंशों के अंशी की ही इस मत में स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मूलतः स्थिति है। परिणामतः उक्त मान्यता की सम्पुष्टि के लिए पृथक् पदार्थ के रूप में अंशि को ग्रहण किया गया है।

मध्व भी वैशेषिक मत के समान गुणों के विवेचन में भावात्मक गुणों का भी आकलन करते हैं। गुणों की संख्या उन्होंने अनन्त मानी है। अनन्त

---

1 जगत्प्रवाहः सत्योऽयं पञ्चभेदसमन्वितः।
जीवेशयोर्मिया चैव जीवभेदः परस्परम् ।
जडेशयोर्जडानाञ्च जडजीवभिदा तथा।। -महाभारततात्पर्यनिर्णय 1, 69-70

मानने के कारण ही ईश्वर की सर्वगुण सम्पन्नता की सिद्धि हो जाती है। **'ब्रह्मशब्दश्च विष्णानेन'** अर्थात् ब्रह्म शब्द विष्णु के लिए ही प्रयुक्त होता है। आचार्य मध्व पूर्णप्रज्ञ भाष्य में विष्णु की व्याख्या स्पष्ट रूप से करते हैं, जिससे ईश्वर के विषय में भ्रान्ति न रह जाए, इसकी स्पष्टता के लिए उदाहरण भी देते हैं-

नामानि विश्वानि न सन्ति लोके यदाविरासीदवृतस्यसर्वम् ।
नामानि सर्वाणि ममाविशन्ति तं वै विष्णु परममुदाहरन्ति।।

अर्थात् इस नामरूपात्मक सृष्टि जगत् में जो कुछ है वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं है, सम्पूर्ण नाम जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उस परब्रह्म को विष्णु कहते हैं।

इस प्रकार माध्व-दर्शन में परमात्मा साक्षात् विष्णु भगवान् है। वे समस्त कल्याण गुण सम्पन्न है। भगवान् के गुण अनन्त हैं और प्रत्येक गुण पूर्ण, निरवधि और निरतिशय है। भगवान् उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, आवरण, ज्ञान बन्ध और मोक्ष इन आठों के कर्त्ता हैं। वे जड पदार्थो, प्रकृति और जीवों से सर्वथा भिन्न हैं। वे परम स्वतंत्र हैं। वे एक हैं, किन्तु नाना रूप और अवतार ग्रहण कर सकते हैं तथा उनके ये रूप और अवतार भी परिपूर्ण होते हैं।

मध्व कहते हैं यह परब्रह्म- ब्रह्म, विष्णु, नारायण, हरि,ईश्वर, परमेश्वर, वासुदेव, परमात्मा इत्यादि नामों से बोधित होता है। यह कारणों का कारण है,अतः स्वतंत्र हैं मध्वाचार्य अन्य वैष्णव आचार्यो की भाँति ब्रह्म को 'सविशेष' स्वीकार करते हैं, इसी कारण मध्व ब्रह्म के सगुण तथा निगुण रूप को परस्पर विरोधी स्वीकार नहीं करते हैं। शंकराचार्य ने निर्गुण का अर्थ लौकिक तथा अलौकिक धर्मों से रहित स्वीकार किया है। मध्व यह अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं। वे लौकिक का निषेध और अलौकिक का विधान करते हैं। मध्व कहते हैं- श्रुति जब ब्रह्म को अशरीरी कहती है, तो उसका तात्पर्य किसी भौतिक शरीर के अभाव से है, न कि शरीर रहित होने से। ईश्वर दिव्य शरीर धारण कर सकता है, और उसके इस लीला-विग्रह के अवयव भौतिक नहीं होते।

मध्वाचार्य ब्रह्म को ज्ञेय मानते हैं यह विचार कठोपनिषद् से ग्रहण किया है- कि जिस आत्म तत्त्व का यह साधक ज्ञेय रूप से वरण करता है, उस आत्मा के द्वारा ही उसका ज्ञान प्राप्त करता है। उसके प्रति आत्मा अपने स्वरूप

को स्पष्ट कर देती है।[1] मध्व कहते हैं, जीव ईश्वर को उतनी ही मात्रा में जान पाता है, जितनी मात्रा में ईश्वर उसे अपना ज्ञान कराता है।

मध्व ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करने के कारण ही अंशाशिभाव स्वीकार करते हैं। ब्रह्म अंशी है, जीव अंश है, जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीवों का प्राकट्य होता है। ब्रह्म अपने अंश जीव का नियामक है और शासक है, तथा जीव नियम और शसित। इस प्रकार माध्व सिद्धान्त में दोनों में भेद को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, ईश्वर अपनी माया या इच्छा से जगत् की सृष्टि करता है।

''श्रुतिवाक्यों सर्वं खल्विदं ब्रह्म या 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म'' इत्यादि का तात्पर्य यह है कि जगत् में वह व्याप्त है, और यह कि ब्रह्म के समान जगत् स्वतन्त्र सत् नहीं है। स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी जीव और जगत् की सत्ता और प्रतीति ब्रह्म के अधीन है।

मध्वाचार्य की जीव सम्बन्धी अवधारणा जानने के लिए अंशाशिभाव को जानना आवश्यक है, क्योंकि अंशाशिभाव स्वीकार करने के कारण ही, जीव की नित्यता, जीव-बहुत्व, ब्रह्म से जीव की न्यूनता, ब्रह्म और जीव के मध्य उपास्योपासक भाव सम्बन्ध इन सभी सिद्धान्तों की उत्पत्ति होती है।

आचार्य मध्व के अनुसार चैतन्य जीव का स्वाभाविक धर्म है, इसी कारण जीव के अणु परिमाण होते हुए भी चैतन्य के सकल शरीर में व्याप्त होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। मध्वाचार्य भी सभी वैष्णव आचार्यों की भाँति जीव के कर्तृत्व और भोक्त तत्त्व को जागतिक व्यवहार की सत्यता, तथा श्रुति के प्रत्येक शब्द की अंसदिग्ध प्रामाण्यवत्ता पर विश्वास इन दो विशेषताओं के आधार पर सिद्ध करते हैं। ब्रह्म से स्वतंत्र है, और न धर्मतः, इसी कारण कर्तृत्व भी ब्रह्मगत ही है।

जीव का बन्ध और मोक्ष भी ब्रह्म की इच्छा से ही होता है। बन्ध एवं मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में जीव की पराधीनता ईश्वर के प्रति है। उसे जो स्वातन्त्रय की प्रतीति होती है, वह बुद्धि कृत मोह के कारण है। इसलिए जीव को ईश्वर के चरणों में अनन्य भक्ति रखनी चाहिए। ईश्वर के प्रति उसके मन में अनन्यत्व होना नितान्त आवश्यक है, तभी जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

---

1 यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुणे तनुं स्वाम्। कठोपनिषद 2/23

मध्वाचार्य के अनुसार-ईश्वर सृष्टि का आधार है, वह जगत् का मूलाधार है, क्योंकि सृष्टि का होना उसकी क्रिया पर ही निर्भर है। माध्व-मत में जगत् की सृष्टि-प्रक्रिया का सिद्धान्त साङ्ख्यानुवर्ती है। सृष्टि-प्रक्रिया के सांख्य सम्मत रूप को, प्रायः स्वीकार कर लेने के उपरान्त, मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्त नहीं माना है। मध्वाचार्य सृष्टि और प्रलय के वर्णन को वास्तविक मानते हैं। ईश्वर के ईक्षण से हुई सृष्टि को काल्पनिक या मिथ्या नहीं, अपितु पारमार्थिक मानते हैं। मध्व जगत् के उपादान कारण प्रकृति को एक पारमार्थिक-तत्त्व मानते हैं, तो उसका विकार मिथ्या कैसे हो सकता है?

ब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रकृति से साक्षात् या परम्परया जगत् की सृष्टि बतायी गयी है। इस प्रकार मध्व ब्रह्म की उपादानकारणता को न स्वीकार कर उसे निमित्त कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रकृति उसके अधीन है, एवं वही जगत् का उपादान कारण है अतः सृष्टि ईश्वर से सर्वथा भिन्न है और सत् है तथा उसकी सत्ता प्रामाणिक है।

सृष्टि की सत्यता स्वीकार करने के कारण ही शंकर के मायावाद की आलोचना करते हुए मध्व कहते हैं कि माया ब्रह्म की उपाधि नहीं, अपितु शक्ति है तथा उससे ही नियन्त्रित होती है।

आचार्य मध्व सत्कार्यवाद स्वीकार करते हुए कहते हैं कि यह समस्त कार्यजात सूक्ष्मावस्था या कारणावस्था में ब्रह्म में वर्तमान था और उसकी इच्छा से ही इन विविध रूपों में प्रकट हुआ है। 'भागवत्-तात्पर्य-निर्णय' में आचार्य मध्व ने भक्ति की महिमा का विस्तार से वर्णन किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इस ग्रंथ में भक्ति भगवान की मंदाकिनी प्रवाहित होती दिखाई देती है। भक्ति का स्वरूप बताते हुए मध्व कहते हैं कि भगवान के प्रति अपार श्रद्धा का नाम भक्ति है। यथार्थ में भक्ति से ही भगवान की प्राप्ति सुलभ होती है। मध्वाचार्य ने भक्ति के विभिन्न घटकावयव बताए हैं- प्रेम, श्रद्धा, भगवत्सेवा, शरणागति तथा स्नेह इनके माध्यम से भक्ति उत्पन्न होती है।

ऋषि शांडिल्य ने कहा है ईश्वर सर्व समर्थ और सर्वशक्तिमान है, इस परमात्मा के प्रति परमप्रेम ही भक्ति हैं। मध्व भक्ति के दो रूप स्वीकार करते हैं- साधन भक्ति और साध्य भक्ति। साधन भक्ति के रूप में वह ज्ञान योग, कर्म आदि साधनों से श्रेष्ठ है तथा साध्य के रूप में मोक्ष से भी श्रेष्ठ है। मध्व कहते हैं- भक्ति का अमृत जैसे-जैसे हमारे अन्दर प्रवेश करने लगता है, परमात्मा का अनुग्रह होने लगता है और हम परमात्मा की कृपा का अनुभव करने लगते हैं।

आचार्य मध्व ने भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ बताया है मध्व द्वारा द्वैतवाद स्वीकार करने का मुख्य कारण यह भी है कि मध्व परम मुक्तदशा में भी ब्रह्म और जीव में परस्पर-भाव वर्तमान रहता है। मध्व कहते हैं कि मुक्त अवस्था में एक व्यक्ति सर्व प्रकार के आनन्दमय अनुभवों का अधिकारी होता है अतः उसे चरम श्रेय की अवस्था मानी जा सकती है, किन्तु मुक्त व्यक्ति भी आनन्द के उस ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं कर सकता जो परमेश्वर में विद्यमान है। प्रत्येक जीव अपने अधिकारों एवं योग्यताओं से सीमित होता है और उन सीमाओं के अन्तर्गत ही उसकी इच्छाएं फलीभूत हो सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मुक्त व्यक्ति अपनी योग्यता एवं अधिकारों की सीमाओं में ही आनन्द का अधिकारी होता है।

इस प्रकार माध्व- दर्शन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार निश्चित होती है- ब्रह्म का सविशेषत्व, सृष्टि की सत्यता, पंचभेद की मान्यता, भक्ति का चरमोत्कर्ष आदि दृष्टिगोचर होती हैं।

माध्व-दर्शन के सिद्धान्तों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि मध्व ने भेद परक दृष्टि रखने पर भी वेदान्त के सम्प्रदाय के रूप में ही अपने मत की प्रतिष्ठा क्यों की सम्भवतः इसके मूल में वैष्णव मत के प्रति आस्था ही प्रभावी रही होगी। वैष्णव मत का प्रभाव मध्व पर बहुत गहरा है, यह उनके प्रत्येक व्याख्यान से प्रमाणित किया जा सकता है। उस प्रभाव को परित्यक्त न करते हुए भेदवादी दृष्टि से दार्शनिक प्रस्थान की मध्व को अभीष्ट रही होगी। ऐसी दशा में श्रीमद्भगवद्गीता ने मध्व को, सम्भवतः नयी दिशा दी क्योंकि गीता वेदान्त-सम्प्रदाय के आधार-ग्रंथों में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। गीता में मध्व को भी अपने व्याख्यान का आधार मिल गया होगा। सम्भवतः सम्पूर्ण व्याख्यान का केन्द्र विन्दु होने के कारण ही मध्व ने अत्यन्त मनोयोग से 'गीता-भाष्य' की रचना की है। इसीलिए 'महाभरत-तात्पर्यनिर्णय' नामक प्रकरण ग्रन्थ की भी रचना उन्होंने की, क्यों कि गीता को सामान्यतः महाभारत का ही एक भाग माना जाता है।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर जहाँ मध्व श्रुतिवाक्यों की अद्वैत परकता पर दृढता पूर्वक सन्देह करते हैं, वहीं वे उपनिषद् गीता एवं ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य पौराणिक साहित्य, महाभारत, भागवत आदि को तथा पांचरात्र संहिताओं को भी प्रामाणिक मानते हैं। मध्व पर यह आक्षेप भी किया जा सकता है कि वेदान्त-वाक्यों में विशुद्ध भेद की सिद्धि भी असम्भावना के

कारण उनके अर्थो को सीमित करने के लिए साक्षि चैतन्य की मान्यता तथा स्वसम्मत वाक्यों की प्राप्ति के हेतु महाभारतादि की प्रतिष्ठा मध्व ने की। यह सम्पूर्ण सन्देह इसलिए विचार के विषय बनते हैं कि माध्व-मत ही वेदान्त-सम्प्रदाय में विशुद्ध भेदवादी मत है।

मध्वाचार्य विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यनत महनीयता के साथ स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का प्रतिपाद्य विष्णु ही है। वैदिक देवताओं में भी मध्व ने सर्वाधिक उत्कृष्टता विष्णु की ही स्वीकार की है। संहिता-भाग में इन्द्र, वरूण, मरूत आदि प्रमुख देवताओं के समान ही विष्णु का भी वर्णन हैं। संहिता के ही उत्तरवर्ती भाग में एकदेववाद की मान्यता प्राप्त होने लगती हैं कहीं पर भी केवल विष्णु का सभी देवताओं के ऊपर अधिष्ठित होना प्राप्त नहीं होता। यही निष्कर्ष ग्रहण कर पाना सम्भव है कि सभी देवों में एक ही शक्ति हैं इन्द्र, मरूत आदि किसी को भी समान रूप से उस शक्ति का केन्द्र माना जा सकता है, अतः मध्व का विष्णु के प्रति सर्वोत्कृष्टता का भाव और अन्य देवों की उनके प्रति अधीनता के अन्वेषण के प्रयत्न में वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित होना है।

रामानुज के द्वारा विष्णु को दिये गये मध्व ने भी मध्वाचार्य को प्रभावित किया हैं विष्णु सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर के लिए ही प्रयुक्त है। निर्गुणता प्रतिपादक श्रुतियों के विष्णुपरक व्याख्यान के हेतु मध्व ने निर्गुणता का अर्थ त्रैगुण्य का अभाव स्वीकार किया हैं ईश्वर का स्वातंत्रयत्व मध्व सम्प्रदाय में इतनी दृढता से प्रतिपादित किया है कि कुछ विचारक इसे अद्वैतवादी दर्शन ही मान लेते हैं।

श्री राघवेन्द्राचार, मध्वाचार्य के द्वैत-मत को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अनुसार- यह अद्वैत है, क्योंकि मूलतः एक ही तत्त्व स्वतंत्र है, अन्य सभी परतंत्र इस दशा में एक ही तत्त्व की स्थिति रही, परिणामतः मध्व ने भी अद्वैत में ही शरण ली। राघवेन्द्राचार इस मत को द्वैत के रूप में स्वीकार किये जाने के विरूद्ध हैं अद्वैतमत को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि ईश्वर तत्त्व एक ऐसा आधार है जो इस मत की अद्वैतपरकता को प्रमाणित करता है।

डॉ0 राघवेन्द्राचार के मत का खण्डन डॉ0 ए0 के0 नारायण ने किया। डॉ0 ए0 के0 नारायण के अनुसार इस मत को अद्वैत मत मानने के मूल में द्विविध भ्रान्ति है, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने अद्वैत मत तथा मध्व के स्वतंत्र एवं अस्वतंत्र तत्त्वों को समझने में मूल की हैं अद्वैत मत में अनेक का आधार भूत मूल तत्त्व एक ही है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि सत्ता की

दृष्टि से अन्य तत्त्व अपेक्षा कृत हीन है। मध्व मत में ईश्वर से भिन्न जीव एवं जगत् तत्त्व किसी भी रूप में हीन नहीं है वे उतने ही सत्तावान है, जितना कि ब्रह्म।[1]

मध्वाचार्य के अनुसार जीव और स्वप्रकाशकता ईश्वर के अधीन है। जीव की प्रकाशकता को ब्रह्माधीन मानने में उसकी चैतन्यात्मकता की ब्रह्म से समानता कैसे प्रमाणित होगी। जीव के लिए देह की अनिवार्यता मध्व ने ग्रहण की हैं यह देह चैतन्यात्मक एवं आनन्दात्मक है। पंचभौतिक मात्र नहीं। इसी पर जीव आश्रित है। यदि चित और आनन्द देह हैं, तो फिर मध्व-सम्मत जीव का स्वरूप क्या है? यदि यह उसका स्वरूप है, तो फिर उसकी देह सम्बन्धी नित्यता का व्याख्यान कैसे किया जा सकेगा? जीव- विषयक विवेचना में मध्व की स्वरूप-तारतम्य सम्बन्धी उल्लेखनीय मान्यता है। जीवों की परस्पर भिन्नता को स्वीकार करते ही स्वरूप तारतम्य को ग्रहण करने की सम्भावना बढ़ जाती है। जीवों की क्षमताएं परस्पर भिन्न है। मध्व ने दृढता पूर्वक इस प्रकार के एक जीव वर्ग को माना है, जो कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मध्व ने जगत् की सत्ता प्रामाणिक मानने के कारण दृढ़ता पूर्वक उसका समर्थन प्रबल युक्तियों से किया है। स्वप्न एवं भ्रम के आधार पर अद्वैत वेदान्ती विचारक जगत् की सत्ता को मिथ्या प्रमाणित करते हैं। मध्व ने स्वप्न को भी सत् माना है तथा भ्रम में भी दो वस्तुओं की सत्ता प्रसंग उपस्थित होने से दोनों के आधार पर जगत् का सत्यत्व प्रमाणित करते हैं।

ब्रह्म, जीव, जगत्, भेद आदि मान्यताओं के विषय में द्वैत एवं अद्वैत में अत्यन्त तीव्र विवाद हुआ हैं अनेक प्रतिस्पर्धी आचार्यो ने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में परस्पर विवाद का ही आश्रय किया है। इस सम्पूर्ण खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य पर दृष्टिपात करने से माध्व मत से सहमत हो पाना कठिन हैं। मध्व का सम्पूर्ण विवेचन अद्वैतमत के व्यावहारिक सत्तावान् विषयों पर आधारित हैं उस दशा में शंकर भी वस्तुओं का किसी प्रकार का अभाव या अयथार्थता नहीं मानते हैं। जाग्रत-अवस्थागत वस्तुओं का मिथ्यात्व पारमार्थिक क्यों देखा जाए साथ ही क्या वस्तु का विवेचन एक ही दृष्टि से सम्भव है, सामान्य व्यवहार एवं पारमार्थिक तत्त्व दोनों के आधार पर मीमांसा करने से ही वस्तु जात का स्वरूप निश्चित हो सकता है। मध्व ने दोनों में कोई भेद न मानते

---

1 डॉ0 ए. के. नारायण- एन आउट लाइन ऑव मध्व फिलासफी, पृ. 124

हुए जगत् मिथ्यात्व के विरोध में जितने भी तर्क दिये हैं, वे सभी शंकर के व्यावहारिक सत्व की प्रतिष्ठा से व्यर्थ हो जाते हैं व्यवहारतः जगत् सर्वथा उपयोगी एवं तत्त्व सम्पन्न हैं। आत्यन्तिक ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त ही उसका मिथ्यात्व, मायाजन्यत्व प्रमाणित होता है, इसीलिए प्रयत्न करने पर भी मध्व अद्वैत के विरूद्ध समर्थ युक्तियों की स्थापना नहीं कर सके। भारतीय चिन्तन में यथार्थ एवं आदर्श दोनों प्रकार के चिन्तन क्रम प्राप्त होते हैं। सांख्य न्याय वैशेषिक आदि यथार्थ परक पक्ष के प्रतिनिधि हैं। शंकर आदि आचार्य आदर्शवाद के पोषक हैं। मध्व भी शंकर के उपरान्त उत्पन्न होने वाले यथार्थवादी चिन्तक हैं। शंकरके पूर्व अनेक मत-मतान्तर आदर्शवाद के विरूद्ध प्राप्त होते हैं किन्तु उनके उपरान्त उस पक्ष के प्रतिनिधि केवल मध्व है। मध्व ने पूर्व विचारकों की स्थापनाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया अपितु मौलिक क्षमता का भी विनियोग यथार्थ की स्थापना में किया है।

ज्ञान और भ्रान्ति के स्वरूप के विषय में मध्व एवं पूर्ववर्ती यथार्थवादियों के विचारों में अन्तर है। स्मृति की प्रामाणिकता साक्षि की सभी प्रकार के ज्ञान के प्रति आधारत्व ज्ञान के प्रामाण्य ग्रहण के हेतु, आदि विषयों में मध्व का महत्त्वपूर्ण योगदान है। समवाय की सत्ता भी मध्व ने ग्रहण नहीं की। गुण और द्रव्य के सम्बन्ध के विषय में न तो वह न्याय-वैशेषिक के समान उसे सर्वथा भिन्न मानते हैं और न रामानुज के समान समवाय रूप। इस प्रकार मध्व पूर्ववर्ती मान्यताओं में अनेक परिवर्धन-संशोधन आदि करते हैं।

वैष्णव मत के विकास में मध्व के योदान की दृष्टि से भक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान मध्व ने स्वीकार किया है। मध्व ज्ञान को महत्त्व देते हैं। परन्तु ज्ञानमार्ग को भक्ति के समक्ष कम महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार सम्यक् ज्ञान करने के मूल में भी भक्ति हैं ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त भी भक्ति हैं मुक्ति के उपरान्त भी भक्ति की सर्वतोव्याप्त महत्ता प्रतिष्ठित है। शंकराचार्य के समान सभी आचार्य के द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं के सर्वथा विपरीत नये मत के सूत्रपात का साहस मध्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता हैं इसके अतिरिक्त यथार्थवाद के क्षेत्र में मध्व ने अनेक उल्लेखनीय स्थापनायें प्रतिपादित की है।

मध्व के सिद्धान्तों और मान्यताओं को जानने के बाद यह भी जानना आवश्यक है कि मध्व का आविर्भाव अपने युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में हुआ। यथार्थ जीवन को गतिशील बनाने के लिये एक सच्ची आधार भूमि की आवश्यकता थी, तथा आवश्यकता थी एक ऐसे प्रकाश पुंज की

जिसके आलोक में जनसमाज को यथार्थ आत्म बोध हो सके, क्यों कि उस समय उत्तर भारत का विशाल भारतीय क्षेत्र अपने गौरवशाली परम्पराओं के बावजूद भी खिलजी तथा गुलामों के दासत्व को स्वीकार कर चुका था। तथा मलिक काफूर सुदूर दक्षिण रामेश्वरम् तक धावा बोल चुका था। इस राजनैतिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक पतन के कारण मानव जीवन असुरक्षित एवं जनमानस चेतना शून्य सी हो गई थी। इसका एक सबल कारण और भी था कि सम्पूर्ण देश के नैतिक, आध्यात्मिक एवं वैचारिक मार्गदर्शन का आधिपत्य जगन्मिथ्यात्वाद एवं कर्म सन्यासवाद ने हाथों में ले रखा था, जो जो देश के लिए घातक सिद्ध हो रहा था। इसी सांस्कृतिक विघटन एवं आपत्ति काल में आचार्य मध्व का आविर्भाव हुआ, और उन्होंने अपने द्वैतवादी विचारों अर्थात् जतगत् सत्यत्वाद, जीव भेदवाद एवं हरिसर्वोत्तमत्वावाद की प्रतिष्ठा करके एक बार पुनः भारतीय जीवन को भावुक एवं खोखली मायावादी मिनारों से उतारकर यथार्थ की भूमि पर खड़ा करने का सफल प्रयत्न किया।

इस प्रकार माध्व मत की समीक्षा एवं मध्व के योगदान के वर्णन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन एवं वेदान्त क्षेत्र में अपने अभिनव विचारों प्रौढ़ चिन्तनों एवं तर्कसंगत प्रतिपादनों के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाला माध्व वेदान्त शङ्कराचार्य के लोकप्रिय मायावाद एवं दृढ़मूल ऐक्यवाद को गम्भीर प्रचारों तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विद्वत्तापूर्ण एवं लोकरंजक प्रतिपादनों के बावजूद भी अपने आध्यात्मवादी, मर्यादा पूर्ण भक्ति सिद्धान्तों के कारण तथा सर्वथा सत्य एवं भिन्न जीव तथा जगत् से श्रेष्ठतम रूप में ईश्वरीय सत्ता के प्रतिपादन के कारण भारतीय विचार जगत् में अपना निश्चित एवं दृढ़ मूल स्थान बना चुका है। अपनी विशिष्टताओं के कारण यह द्वैत सम्प्रदाय आचार्य मध्व के काल से लेकर आज तक उत्तर से दक्षिण तक सम्पूर्ण भारत में अत्यन्त समादृत हुआ है। इसी कारण आचार्य के जीवनकाल में उनके शिष्यों एवं अनुयायियों की विपुल संख्या उत्तर से दक्षिण तक सम्पूर्ण भारत में फैला हुआ है।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

1.	मध्वाचार्य	ब्रह्मसूत्र भाष्य
2.	मध्वाचार्य	भगवद्गीता भाष्य
3.	मध्वाचार्य	छांदोग्य-उपनिषद् भाष्य
4.	मध्वाचार्य	तैत्तिरीय उनिषद् भाष्य
5.	मध्वाचार्य	कठोपनिषद् भाष्य
6.	मध्वाचार्य	मण्डूक-उपनिषद् -भाष्य
7.	मध्वाचार्य	अनुव्याख्यान
8.	मध्वाचार्य	मायावाद खण्डन
9.	मध्वाचार्य	मिथ्यात्वानुमानखण्डन
10.	मध्वाचार्य	तत्त्वोद्योत
11.	मध्वाचार्य	तत्वविवेक
12.	मध्वाचार्य	तत्त्वसंख्यानं
13.	मध्वाचार्य	न्याय-विवरण
14.	मध्वाचार्य	विष्णु-तत्त्व-निर्णय
15.	मध्वाचार्य	कर्म-निर्णय
16.	मध्वाचार्य	प्रमाण लक्षण
17.	मध्वाचार्य	भागवत-तात्पर्य-निर्णय
18.	मध्वाचार्य	महाभारत-तात्पर्य-निर्णय
19.	मध्वाचार्य	गीता-तात्पर्य
20.	मध्वाचार्य	द्वादशस्तोत्र
21.	जयतीर्थ	न्यायसुधा
22.	जयतीर्थ	तत्त्वप्रकाशिका
23.	जयतीर्थ	उपाधिखण्डनटीका
24.	जयतीर्थ	मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका
25.	जयतीर्थ	तत्त्वोद्योत भाष्य
26.	जयतीर्थ	तत्त्वविवेक भाष्य
27.	जयतीर्थ	तत्त्वसंख्यान भाष्य
28.	व्यासतीर्थ	न्यायामृत

29.	व्यासतीर्थ	न्यायामृत
30.	व्यासतीर्थ	मन्दार मंजरी टीका
31.	व्यासतीर्थ	मायावादखण्डन भाष्य
32.	व्यासतीर्थ	तत्त्वविवेक पर मंदार मंजरी टीका
33.	व्यासतीर्थ	तात्पर्य चन्द्रिका
34.	व्यासतीर्थ	तर्क ताण्डव
35.	व्यास रामाचार्य	न्यायामृतपदतरंगिणी
36.	श्रीनिवासाचार्य	न्यायामृत प्रकाश
37.	वादिराज	युक्तिमल्लिका
38.	त्रिविक्रिम पंडित	तत्त्व-प्रदीप
39.	सुरोत्तमतीर्थ	भाव विलासिनी
40.	वेदगर्भ-पद्मनाभसूरि	मध्वसिद्धान्तसार
41.	पद्मनाभसूरि	पदार्थ संग्रह
42.	पद्मनाभतीर्थ	सन्न्यायमुक्तावली
43.	विष्णुदासाचार्य	वादरत्नावली
44.	विजयीन्द्रतीर्थ	मध्वाध्वकण्टकोद्धार
45.	वदिराजतीर्थ	मध्वमुखालंकार
46.	राघवेन्द्रतीर्थ	तत्त्वप्रकाशिकाभावदीप
47.	मधुसूदन	अद्वैत-ब्रह्म-सिद्धि
48.	डॉ0 हेमचन्द्ररायचौधरी	अर्ली हिस्ट्री ऑव द वैष्णव सेक्ट
49.	डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	इण्डियन फिलासफी
50.	डॉ0 सी0डी0 शर्मा	इण्डियन फिलासफी
51.	डॉ0 ए0के0 नारायण	एन आउड लाइन ऑव मध्व फिलासफी
52.	डॉ0 बी0एन0 के शर्मा	एन इन्ट्रोडक्शन ऑव चतुस्सूत्रीमध्वभाष्य
53.	डॉ0 एस0एन0 गुप्ता	ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी
54.	शंकराचार्य	कठोपनिषद् भाष्य
55.	रामानुजाचार्य	कठोपनिशद् भाष्य
56.	श्रीहर्ष	खण्डन-खण्ड-खाद्य

57.	शंकराचार्य	गीताभाष्य
58.	रामानुजाचार्य	गीताभाष्य
59.	केशवमिश्र	तर्कभाषा
60.	अन्नं भट्ट	तर्क संग्रह दीपिका
61.	एच0एल0 राघवेन्द्राचार्य	द्वैत फिलासफी एण्ड इट्स प्लेस
62.	वात्स्यायन	न्यायसूत्रभाष्य
63.	उद्योतकर	न्यायवार्त्तिक
64.	बादरायण	ब्रह्मसूत्र
65.	बल्लभाचार्य	ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य
66.	शंकराचार्य	ब्रह्मसूत्रभाष्य
67.	आचार्य बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन
68.	शंकराचार्य	मांडूक्य कारिका भाष्य
69.	नागार्जुन	माध्यमिक कारिका
70.	गौड़पाद	माण्डूक्य कारिका
71.	विद्याख्य	पंचदशी
72.	रामानुजाचार्य	वेदान्तसार
73.	सदानन्द	वेदान्सार
74.	रामानुजाचार्य	वेदार्थसार संग्रह
75.	ईश्वरकृष्ण	सांख्यकारिका
76.	डॉ0 राजलक्ष्मी वर्मा	आचार्य वल्लभ और उनका दर्शन
77.	शंकराचार्य	श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य